# भूमिका

मेरे मित्र श्री देवराज उपाध्याय जी ने अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिसिज्म नामक विशिष्ट साहित्यिक भावधारा के सम्बन्ध में यह पुस्तक लिखकर हिंदी साहित्य को एक ऐसी वस्तु दी है जिसकी आवश्यकता बहुत दिनों से अनुभव की जा रही थी। अंग्रेजी के इस विशेष साहित्यांग की जानकारी नाना दृष्टियों से आवश्यक है। एक तो वैसे ही हिन्दी—जो इस अत्यन्त समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा वाले महान् देश की केन्द्रीय भाषा है—में संसार की उन समस्त शक्तिशाली भावधाराओं की गंभीर आलोचना होनी चाहिए जो संसार के जनसमूह को निबिड़ भाव से प्रभावित कर रही हैं या कर चुकी हैं, फिर रोमान्टिसिज्म तो ऐसी भावधारा है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है। इसलिये इस विषय पर कोई अच्छी परिचयात्मक पुस्तक का न होना खटकने वाली बात थी। श्री देवराज जी के प्रयत्न से अब इस विषय पर यह सुन्दर पुस्तक प्रस्तुत हो गई है। ज्यों-ज्यों हमारा चित्त उन्मुक्त होता जायगा, त्यों-त्यों संसार की अन्य समृद्ध भावधाराओं का अध्ययन भी हमारी भाषा में उपस्थित किया जायगा।

रोमान्टिसिज्म क्या है ?

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजी कवियों में एक अद्भुत उन्मुक्त भावधारा प्रबल होकर प्रकट हुई। इसमें परिपाटी विहित और परम्पराभुक्त-रस-दृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूति आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य था। इस विशिष्ट दृष्टिभंगी की प्रधानता को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने हिन्दी में इसे 'स्वच्छन्दतावाद' कहा है। परन्तु यह शब्द उस सम्पूर्ण साहित्य की आत्मा को प्रकट करने में समर्थ नहीं है। रोमान्टिक साहित्य वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना यह रूप धारण कर सका है जो कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वयं भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है। क्लासिकल या परम्परा-समर्थित साहित्य में परिपाटी विहित रसज्ञता या रस-निष्पत्ति पर जोर दिया गया होता है इसलिये उनमें उस अनासक्त सौन्दर्य-ग्राहिणी दृष्टि का प्राधान्य रहता है जो अधिकाधिक मात्रा में सामान्य होती है, विशेष नहीं। जब कोई सहृदय सौन्दर्य और रस बोध

के सामान्य मान को स्वीकार कर लेता है तो उसका ध्यान सामान्यभाव से निर्धारित सौन्दर्य के टाइप और नीति तथा सदाचार के परिपाटी-विहित नियमों को ही अंगीकार करता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटी-विहित मानों से सब समय उसका सामञ्जस्य ही नहीं होता। कई बार उसे ऊपरी सतह के सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है। परन्तु यह विद्रोह उसका मूल स्वर नहीं है। हिन्दी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय भी इस प्रकार की उन्मुक्त आवेग प्रधान और कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियों में उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा। परन्तु यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टिभंगी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामंजस्य न हो सकने का बाह्यरूप मात्र है। यदि यही अन्त तक कवि का मुख्य वक्तव्य बनी रह जाय तो कवि सफल नहीं होता। परन्तु जो कवि उसका वास्तविक मूल्य समझता है वह स्थायी और अमर साहित्य का निर्माण करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजी के जिन साहित्यकारों में उन्मुक्त स्वाधीन दृष्टिभंगी विकसित हुई थी वे विद्रोही अवश्य थे परन्तु वह विद्रोह उनकी नवीन भावधारा का एक बाहरीन और आवश्यक रूप भर था। केवल परम्परा प्राप्त साहित्य का विरोध करने के लिये या परिपाटी-विहित रसज्ञता का प्रत्याख्यान करने के लिये वह साहित्य नहीं रचा गया था। इसीलिये उसे स्वच्छन्दतावाद कहना उसके केवल एक पहलू को ही अधिक बढ़ाकर कहना है।

रोमान्टिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग—ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं। वस्तुतः इनका पृथक्-पृथक् नाम देना और स्वरूप बताना केवल आलोचना की सुविधा के लिये परिकल्पित हैं, काव्य की अभिव्यक्ति में ये दोनों वृत्तियाँ वस्तुतः एक दूसरे से इस प्रकार गुँथी रहती हैं कि उनको अलग करना कठिन होता है, केवल सहृदय इतना अनुभव कर सकता है कि कहीं एक की मात्रा अधिक है और दूसरी का कम, कहीं ये प्रतिद्वन्द्वी समान हैं और कहीं एक ने दूसरी को दबोच लिया है।

परन्तु चित्त की उन्मुक्तता केवल इन दो मनोवृत्तियों की प्रधानता का समानान्तर नहीं है। वह केवल काव्य के क्षेत्र मेंही अपने आप को प्रकाशित नहीं करती, जीवन के विविध क्षेत्रों में उसकी लीला विराजने लगती है। तत्वज्ञ पंडितों ने उस युग के इङ्गलैण्ड के इतिहास से दिखाया है कि यह चित्र गत उन्मुक्तता सर्वत्र अपना प्रभाव विस्तार कर रही थी। विचार के क्षेत्र में उसने परिपाटी विहित नियमों को अस्वीकार किया। फ्रेंच क्रान्ति ने उन दिनों वहां के जन चित्त को तेजी से आन्दोलित किया था, वैज्ञानिक आविष्कारों, यातायात के नये साधनों और इन सबके परिणाम रूप में आत्मप्रकाश करने वाली व्यावसायिक क्रान्ति ने मनुष्य में नई चेतना को जागृत किया। इस युग के यूरोप में एक अद्भुत विरोधाभास है। मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, ईश्वर पर सन्देह किया परम्परा समर्थित नैतिक दृष्टिभंगी पर सन्देह किया, परिपाटी-विहित रमज्ञता पर भी सन्देह किया और फिर भी यह युग विश्वास का युग है क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर सन्देह नहीं किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़ता के साथ आस्था जमाए रखा। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, वह प्रकृति के अजेय दुर्ग पर अपनी विजय पताका फहरा सकता है—इस विचार ने मनुष्य के चित्त में अपूर्व आत्म विश्वास का संचार किया।

व्यावसायिक क्रान्ति के कारण राजनीतिक और आर्थिक-शक्ति धीरे-धीरे सामन्तवर्ग के हाथ से निकलकर व्यवसायी वर्ग के हाथ में आ गई। जिन दिनों इङ्गलैण्ड में सामन्तशाही के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन हुआ था, उन दिनों पूंजीवाद नया शिशु था, साधारण प्रजा के स्वार्थों के साथ उसका विरोध नहीं था। साधारण जनता ने उन दिनों पूंजीवाद के नये पुरस्कर्ताओं का साथ दिया था। नये वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से जो नई नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई उसने कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी कि अनायास ही परम्परा की कड़ियां टूटती गईं। शहर की भीड़-भाड़ ने पुराने सदाचार के नियमों को शिथिल कर दिया, शिक्षा प्रचार राज्य का कर्तव्य मान लिया गया और वैज्ञानिक शोधों के साथ मिली हुई नई शिक्षा व्यवस्था ने एक ही साथ वंशगत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासन के साथ विद्रोह किया। इस प्रकार परिस्थितियां वैयक्तिक स्वाधीनता के अनुकूल थीं, आडमस्मिथ ने सुझाया कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके व्यक्तियों की योग्यता और स्वाधीनता पर ही निर्भर है। व्यावसायिक क्रान्ति की उथल-पुथल ने कुलीन पुरुषों के इस दावे को निर्मूल सिद्ध किया कि कुल-विशेष भगवान् की

ओर से विशेष गुणों के साथ उत्पन्न किया गया है । व्यवसाय में, जनता के व्याख्यान मंच पर, कानून बनाने वाली सभाओं में और जनचित की प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति करने वाले समाचार-पत्रों में कौलीन्य का कोई विशेष मूल्य नहीं था। आगे चलकर यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि वैयक्तिक स्वाधीनता यदि व्यवसाय वाणिज्य और नागरिक सम्बन्धों में अच्छी चीज है तो वह सदाचार और नैतिकता के क्षेत्र में क्यों नहीं अच्छी है। गाडबिन ने निसंदिग्ध होकर घोषणा की थी कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है, अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिए जांय तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र में निस्सन्देह अभूतपूर्व उन्नति होगी। शेली ने इन्हीं नियमों को छन्दोबद्ध किया था। रोमान्टिक कवियों के संवेदनशील चित्त में ऊपरी सतह की ये हलचलें आपकी निश्चित लाञ्छन रेखा छोड़ जाती थीं। इन कवियों के चित्त में जो रचनात्मक प्रतिभा थी उसने इन ऊपर से कर्कश दिखाने वाले विचारों की कोमल अभिव्यंजना की। वस्तुत: यह साहित्य अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार संघर्ष की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है। यह समविरोध की ही चीज है। यह कहना जंचता नहीं कि किसी पुराने विचार का नया नामान्तर मात्र है। इस कथन का अर्थ यदि यह हो कि मूल मानव मनोवृत्तियां वही बनी रहती हैं केवल विभिन्न परिस्थितियों में उनका ऊपरी रूप परिवर्तित होता रहता है तब तो यह बात किंचित स्वीकरणीय हो सकती है किन्तु यदि इसका अर्थ यह हो कि इसी श्रेणी की या ये ही भावधारायें पहले कभी रहीं और बाद में भी कभी आ सकती हैं तो यह बात स्वीकार योग्य नहीं होगी। यह कहना कि कबीर का रहस्यवाद ही रवीन्द्रनाथ का रहस्यवाद है, या मीरा का ही रूपान्तर महादेवी वर्मा हैं, पूर्ण सत्य नहीं है। ऐसी बातें विचारगत गंभीरता का निदर्शन नहीं हैं। इतिहास अपने आपको चाहे तथ्यात्मक जगत् में कभी-कभी दुहरा भी देता हो परन्तु विचारों की दुनियां में वह जो गया सो गया। मनुष्य का जीवन अपना उपमान आप ही है। इसमें एक बार जो गलती हो जाती है या भटकाया आ जाता है वह अनुभव के रूप में और स्मृति के रूप में कुछ-न-कुछ नया जोड़ पाता है, इस जुड़े हुए अंश को किसी पूर्ववर्ती रूप में नहीं पाया जा सकता।

स्वयं रोमान्टिक साहित्यकारों में चौथाई शताब्दी में ही विचारगत विभेद और वैशिष्ट्य लक्षित होने लगा था। तदग्ज्ञ पंडितों ने उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण के साहित्य में एक विशेष प्रकार की नई प्रवृत्ति का

संधान पाया है जो इसलिए सम्भव हुई थी कि इन दिनों के साहित्यकार इस बात में सचेत हो गए थे कि वे कुछ नया कर रहे हैं और उनके प्रधान अस्त्र आवेग और कल्पना हैं ! पूर्ववर्ती साहित्यकारों में जो एक प्रकार का बाह्य जगत् के प्रति विस्मय का भाव था वह आदिम मानव के उस मनोभाव का सजातीय था जिसने पौराणिक विश्वासों और तान्त्रिक आचारों को जन्म दिया था, जब कि दूसरे चरण के साहित्यकारों में उस प्रकार के मनोभाव हैं जो तान्त्रिक आचारों को निर्विवाद रूढ़ियों के रूप में स्वीकार करने वाले मनुष्यों में पाया जाता है ।

यदि उस युग के इङ्गलैण्ड की बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो एक और तथ्य भी प्रकट होगा । इंगलैण्ड की साधारण जनता उन दिनों बहुत व्यावहारिक दुनियादारी में लगी थी । रोज़गार के नये साधन सामने आ रहे थे, दुनियां के कोने-कोने में ब्रिटिश सिंह का जय-निनाद गूंज रहा था और घर में अनायास लब्ध समृद्धि को भरने का प्रयत्न छोटे बड़े सब कर रहे थे । यह बिल्कुल ऊपरी सतह की बात है किन्तु उस देश के विचारशील लोगों में एक प्रकार की मानसिक अशान्ति अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई थी । सन्तुलन नष्ट हो रहा था, संवेदन शील चित्त बाहरी समृद्धि और भीतरी औचित्यबोध के संघर्ष से अस्थिर हो उठा था और भीतर बाहर के इस संघर्ष ने सुकुमार कलाओं के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना शुरू किया था । कवि चित्त जब बाह्य परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता तब छन्दों की भाषा अत्यन्त प्रभावशाली होकर प्रकट होती है आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति और बाह्य असुन्दर-सी लगने वाली परिस्थिति की टकराहट से जो विक्षोभ पैदा होता है वह सब देशों में काव्य की भाषा को मुखर बना देता है, उसमें सम्मूर्तन का रूप और आवेग का पंख लगा देता है । आदि कवि के उपाख्यान में इसी तथ्य की ओर इशारा किया गया है । ऋषि का मनुष्योचित रूप अपने आन्तरिक आदर्शों के एकदम विरुद्ध पड़ने वाले क्रौंचवध रूपी असुन्दर व्यापार से जब विचलित हुआ था तभी अशरीरिणी वाक नवीन छन्दों में मुखर हो उठी थीं । रोमांटिक साहित्य इसी प्रकार के कवि चित्त के आन्तरिक सौंदर्य के आदर्श और बाहरी जगत् के एकदम भिन्न परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है । इस संघर्ष में विद्रोह का स्वर भी है परन्तु असली और प्रधान स्वर रचनात्मक है । वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो कुछ नया देखने की तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित है और बाह्य असुन्दरता को बदलने के उद्देश्य से परिचलित है । इस भाव-

धारा में स्नान करके पुरातन ने भी नया रूप ले लिया है। इस सद्यः स्नाता काव्य-लक्ष्मी का 'प्रत्यग्र-मंजन-विशेष-विविक्त-कान्तिः' सचमुच दर्शनीय है। वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स आदि कवियों ने जिस मोहक सौंदर्य जगत् का निर्माण किया है वह अपूर्व है। उसने हमारे देश के साहित्य को भी प्रभावित किया है। उसकी चर्चा बहुत वांछनीय है।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि प्रो० देवराज ने यह उत्तम कार्य कर दिया है। इसके लिए उन्हें कितना ही परिश्रम करना पड़ा होगा, यह सहृदय मात्र अनुभव कर सकते हैं। पुस्तक में कहीं उपाध्याय जी ने अंग्रेजी शब्द और वाक्यों का अनुवाद किए बिना ही छोड़ दिया है। मुझे लगता है कि इससे केवल हिंदी जानने वाले लोगों को थोड़ी असुविधा होगी। परन्तु अधिकांश स्थलों में उन्होंने अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के प्रति हिंदी शब्द बनाए हैं। इनका गढ़ना कितना दुष्कर कार्य है यह बात भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। उन्होंने इस साहित्य के सब पहलुओं पर विस्तृत विचार किया है, मेरा विश्वास है कि हिंदी के साहित्यालोचना के क्षेत्र में इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत होगा। इससे उन अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थियों को भी लाभ होगा जो अपनी मातृभाषा में उस साहित्य की विशेषताओं के समझने का साधन और सुयोग नहीं पाया करते। पंडित देवराजजी जो कुछ लिखते हैं वह सोच-समझ कर और विचार कर लिखा करते हैं। हिन्दी के नये आलोचकों में वे विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि वे भविष्य में हिंदी साहित्य को और भी नई विचार धाराओं की पुस्तकें देते रहेंगे और मातृभाषा के भण्डार को समृद्ध बनाते रहेंगे। तथास्तु।

काशी विश्वविद्यालय,
अक्षय तृतिया, स० २००८

हजारीप्रसाद

# अपनी बात

"टिटिरिया" नाम की एक चिड़िया होती है, वह अपने पैरों को ऊपर कर सोती है ताकि आसमान यदि कहीं गिर पड़े तो वह उसे अपने पैरों पर आड ले। वही हालत मेरी हो रही है विशेषतः भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से मेरी कल्पना में दो बातें दीखने लगी हैं। प्रथमतः कि आगामी दस पन्द्रह वर्षों में लोगों की उदासीनता अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन की ओर से बढ़ेगी इसका परिणाम यह होगा कि अंग्रेजी में जो कुछ भी उच्च कोटि की चिन्तन सामग्री प्राप्त है वह सदा के लिए हम से लुप्त हो जायेगी। यदि यह दुर्घटना घटी तो भारत के राष्ट्रीय जीवन के लिये ऐसी अपूर्णीय क्षति होगी जिसकी पूर्ति शायद कभी भी न हो सके आखिर हम हिन्दी के कैसे भी हिमायती क्यों न हों पर अंग्रेजी साहित्य की समृद्धि की ओर से आंख मूंदकर अपना ही अनभल करेंगे। दूसरी बात यह कि मान लिया जाय कि किसी कारण से भारत का सम्पर्क यूरोपीय जगत से टूट जाता है और पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान का कुछ भी साधन नही रह जाता, वैसी सूरत में भारत को जैसी क्षति उठानी पड़ेगी वैसी इंगलिस्तान को नही, कारण, भारतीय मस्तिष्क ने जो कुछ भी अब तक सोचकर साहित्य के रूप में सुरक्षित रख छोड़ा है उसे अनुवाद के रूप में या संकलन के रूप में अंग्रेजों ने अपने यहां भी रख लिया है; वे सदा के लिये उन्हें प्राप्त हैं। वे ब्रिटिश साम्राज्य को छोड़ सकते थे पर शेक्सपियर को नहीं। उन्होंने इतना ही नहीं किया। वे एक पद आगे बढ़ गये हैं और अपने साम्राज्य के "शैक्सपियरों" को भी अपने यहां ला बैठाया है चाहे साम्राज्य को तिलांजलि ही देनी क्यों न पड़ी। पर हमने क्या किया है। हमारा तो जो आर्थिक शोषण हुआ सो हुआ ही पर इन २५० वर्षों के बीच यूरोपीय जगत से जो अंग्रेजी के माध्यम से सम्पर्क हुआ था उसका एक ही उज्ज्वल अंश था कि हम उसके प्रौढ़ मस्तिष्क से निकले चिन्तन स्रोत को अपने देश की भूमि की ओर मोड़ते और उससे अपने देश की मिट्टी को सशक्त बनाकर जीवन प्रदायक फल फूलों का उत्पादन करते, पर गफलत में ही हमारा सारा समय बीत गया है।

उदाहरणार्थ यही बात लीजिये न, अरस्तू से लेकर क्रिस्टोफर काडवेल तक न जाने कितने साहित्य शास्त्रियों ने कविता, साहित्य, और कला को न जाने

कितने विविध रूपों में समझने और समझाने का प्रयत्न किया है जो हमारे लिये मनन और विचार-संकेत-ग्रहण का आधार हो सकता है। यह आवश्यक है कि हम उन्हें पढ़ें, उनका मनन करें और उन पर अपने भारतीय रोशनी का पानी फेर कर उसे और भी समृद्ध करें। समय आ गया है कि हमारे हिन्दी के चिन्ता में घुल-घुल कर मरने वाले लोगों और हिन्दी प्रेमियों का ध्यान इस ओर जल्द-से-जल्द आकर्षित हो और कुछ इस ओर क्रियात्मक पद उठाया जाय। इसमें थोड़ी भी शिथिलता अक्षम्य अपराध होगी।

मैंने इन्हीं भावों से प्रेरित होकर "रोमांटिक साहित्य शास्त्र" से अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों के साहित्य शास्त्रीय विचारों को संकलित करने का प्रयत्न किया है, वर्डस्वर्थ, कालरिज, शेली ये रोमान्टिक युग के सर्वोत्तम देन हैं। ये लोग एक विशेष युग की विचार धारा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते परन्तु इनके पीछे एक संस्कृति की लहर प्रभावित होती रही है जिसके ये सर्वोच्च शिखर हैं। कालरिज के विचारों में आज भी ताजगी है और उसमें हमें वहुत कुछ मनन की सामग्री मिल सकती है।

कालरिज, वर्डस्वर्थ, शेली, लैम्ब और कारलाईल इत्यादि ने साहित्यशास्त्र के सामने साहित्यिक आलोचना को एक सर्वथा भिन्न रूप में उपस्थित किया है। अन्य साहित्यिकों की तरह अंग्रेजी साहित्य की आलोचना का इतिहास भी अधिक पुराना नहीं है। अंग्रेजी साहित्यिक आलोचना का इतिहास साधारणतः तीन युगों में विभाजित किया जाता है। प्रथम युग एजिलाजवेथन तथा मिलटन का है, दूसरा पुनरागमन (vesflovation) से फ्रांस की राज्यंक्रांति तक, तीसरा फ्रांस की क्रांति से लेकर आधुनिककाल तक इस तरह हम देखते हैं कि जिस युग के साहित्यशास्त्र का अध्ययन हमने इस पुस्तक में उपस्थित किया है वह द्वितीय युग के अन्त और तृतीय युग के प्रारम्भ में आता है। साहित्य शास्त्र का शाश्वत और मौलिक प्रश्न यही रहा है और सदा के लिये रहेगा कि किसी रचना के साहित्यिक उत्कर्षापकर्ष का निर्णायक मापदण्ड क्या है, 'हम किस कसौटी पर जांच कर निर्णय करें कि अमुक रचना कहां तक साहित्यिक योग्यता से समृद्ध है। इस मापदण्ड का प्रश्न आज अर्थात् साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में कालरिज इत्यादिक रोमांटिक कवियों के आगमन तक, ले देकर, इसी रूप में रहा है कि किसी रचना का महत्वाकंन अथवा मूल्य निर्द्धारण करते समय कसौटी आलोचक के मस्तिष्क में खोजी या उसके वाहर। दूसरे शब्दों में आलोचक अपना निर्णय देते समय अपने विचारों को प्रधानता दे अथवा अपने पूर्ववर्ती परम्परानुमोदित साहित्यिक नियमों के सहारे अपने मंतव्य को

निश्चित करे। पर इन रोमांटिक कवियों ने समालोचना के प्रश्न को दूसरे रूप में रखा। उन्होंने मानों हमसे कहा कि साहित्य पर विचार करते समय हमारे सामने प्रश्न यह है कि सच्ची कसौटी कवि की रचना के अन्दर है या बाहर। हमें किसी कविता की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में निर्णय देना है, हम किस तरह से दें ? क्या हम देखें कि कवि जिस विषय पर काव्य रचना कर रहा है उसकी स्पष्ट रूपरेखा उसके मस्तिष्क पर है या नही और उसे एक सुश्रृंखलित रूप में वह अभिव्यक्त करने में सफल हुआ है या नही। अथवा हम यह देखने का प्रयत्न करें कि काव्य को जीवन देने वाली मूल प्रेरणा कहाँ तक उचित है और कहां तक उसम कलामयता है और कवि कौशल में कहाँ तक कविता के मूलभूत सिद्धान्तों का पालन किया गया है, आलोचना के क्षेत्र मे यह एक बड़ा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि आलोचना का नेतृत्व अब आलोचक के हाथ से निकलकर कवि के हाथों में आ रहा है। आज तक इस क्षेत्र में आलोचक का शासन रहा है पर अब कवि के आधिपत्य का प्रारम्भ हुआ। कालरिज इत्यादि ने बताया कि कोई किसी कविता के साथ न्याय नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं कवि की सतह तक नही उठता, उसकी भावभूमि को एक अंश तक स्पर्श नही करता। अब तक के आलोचक क्या करते आये थे। कोई कविता सामने आई नही कि गम्भीर और बुर्जगाना रूप बनाकर कहना प्रारम्भ किया "यह ठीक नही यह ठीक नही' मानों वे अभियोक्ता हों और कवि रूपी अभियुक्त का छिद्रान्वेषण ही उनका काम हो पर कालरिज वैसा नहीं करेगा। वह कविता को देखते ही बड़े ही संभ्रम ढंग से पहले इस प्रश्न पर विचार करेगा कि कविता क्या है ? कवि किसे कहते है ? और तब वह कही संकोच के साथ निर्णय देगा। जिस तरह अन्य क्षेत्रों में मनुष्य की स्वाधीनता की, प्रजातन्त्र की वैयक्तिकता की प्रतिष्ठा हुई है उसी तरह इस युग में कवि-व्यक्ति का विजयोद्घोष किया गया। कवि की प्रतिष्ठा बढ़ी, कविता ऊंची नजरों से देखी जाने लगी, काव्य के क्षेत्र मे व्यक्ति का आदर स्वीकृत हुआ। पूज्यपाद द्विवेदी जी ने भूमिका में जिसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता कहा है उसने आलोचना के क्षेत्र को भी अन्य क्षेत्रों की तरह प्रभावित किया।

इस पुस्तक में एडिशन, लेसिंग और रस्किन को देखकर शायद यह कहा जाय कि वे रोमांटिक युग के व्यक्ति हैं अतः उनको यहां स्थान देना उचित नही, पर एडिशन और लेसिंग उस समय के व्यक्ति थे जब क्लासिकल विचारधारा से मुक्त होकर चिन्तन श्रोत रोमान्स की ओर मुड़ रहा था, रस्किन उस समय

# एडिसन

## ( १६७२—१७१६ )

जोशेफ़ एडिसन का जन्म सन् १६७२ के मई महीने में हुआ था। इसके पिता का नाम लानसेलाट एडिसन था और माता का नाम जेन गुलस्टन था। उसने आक्सफोर्ड विश्व विद्यालय की उच्च शिक्षा पाई थी। उसने कवितायें भी लिखीं, नाटक भी लिखे। आधुनिक वैयक्तिक निबन्धों का तो वह जन्मदाता ही कहा जाता है। 'टैटलर' और 'स्पेक्टेटर' नामक पत्रिकाओं मे विविध प्रकार के लेख उसने लिखे और उनकी तीखी और चुभती व्यंग्यात्मक शैली के द्वारा तत्कालीन समाज का ध्यान उसकी नैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक त्रुटियों को ओर आकर्षित किया। उसकी विद्वता अपार थी, उसने लेटिन साहित्य का गहरा अध्ययन किया था, यूरोपीय महादेश के अनेक प्रदेशों का उसने देशाटन भी पर्याप्त किया था, लोगों के रहन-सहन का परिचय प्राप्त किया था। उसने केवल ४७ वर्ष की आयु पाई पर इस अल्पायु में ही उसने अपनी सजीव लेखनी के द्वारा लोगों के मानसिक धरातल को ऊँचा उठाया तथा उनकी रुचि को परमार्जित किया। जानस्टन ने अपनी पुस्तक Lives of Poets में एडिसन की लेखन-शैली का उत्तमता के बारे में जो उद्‌गार प्रगट किये हैं वे अंग्रेजी साहित्य के किस विद्यार्थी को मालूम नहीं? "Whoever wishes to attain an English Style, familiar, but not coarse, and elegant, but not ostentatious, must give his days and nights to the volumes of Addison." अर्थात् यदि अंग्रेजी भाषा में एक ऐसी शैली में सिद्धि प्राप्त करनी हो जो चलती हो पर खुरदरी नहीं, जो दिव्य पर आडम्बर रहित हो, तो एडिसन की पुस्तकों के अहर्निश पारायण में तल्लीन हो जाओ" संस्कृत में भी गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव के सम्बन्ध में एक ऐसी ही उक्ति मिलती है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनः
यदि विलास कलासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकांतपदावलीं
श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्

अर्थात् यदि हरि के स्मरण में मन लगता हो, यदि विलासकला में थोड़ा भी कौतूहल हो तो जयदेव की मधुर और कोमलकांत पदावली सुनो।

१७ वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १८ वीं शताब्दी के मध्य तक पूरे सौ वर्षों का आंग्ल जीवन एक बड़े ही संघर्ष का जीवन रहा है। प्रत्येक क्षेत्र में राजनैतिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या साहित्यिक, दो दल हो गए थे और दोनों के सिद्धांतों में इतना अन्तर था कि इन दोनों को एक स्तर पर लाना कठिन ही मालूम पड़ता था। एडिसन ने इसी असाध्यसाधन की ओर शक्ति को लगाया और इसमें सफलता प्राप्त की। इंगलैंड के जीवन में एडिसन और स्टील द्वारा परिचालित "टैटलर" और "स्पेक्टेटर" की सबसे महत्वपूर्ण देन यह है कि इन लोगों ने तत्कालीन अव्यस्थित और तरल चिन्तन-प्रवाह को एक ठोस रूप देकर उसके लिए एक निश्चित् मार्गोद्‌घाटन किया जिस पर आज भी वह अग्रसर होता जा रहा है। आज अंग्रेजी भाषा संसार की श्रेष्ठ भाषाओं में गिनी जाती है। चाहे किसी तरह के विचार हों उन्हें अभिव्यक्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता है। एडिसन प्रथम व्यक्ति था जिसने उस अंग्रेजी गद्य का निर्माण किया जो सामाजिक चिन्ता की अभिव्यक्ति का समर्थ और उचित माध्यम बन सके। यह नहीं कि एडिसन के पहले अंग्रेजी गद्य का विविध क्षेत्रों में प्रयोग नहीं हुआ हो। अच्छे अच्छे सुगठित निबन्ध लिखे जा चुके थे, इतिहासों की भी रचना हो चुकी थी, विवादास्पद विषयों पर भी गद्य ने अपनी शक्ति की परीक्षा दी थी, साहित्यिक आलोचनाओं की भी कमी न थी, दार्शनिक विषयों पर भी विवेचन हो चुका था। इसके लिये बेकन, रेले, मिल-टन, ड्राईडेन, हाब्स, लाक इत्यादि का नामोल्लेख कर देना पर्याप्त है। परन्तु इन लोगों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इन लोगों ने एक ऐसे गद्य की नींव डाली जिसमें लेखक के व्यक्तित्व के प्रतिबिम्ब के साथ ही राष्ट्र की प्रतिभा तथा चरित्र की भी झलक हो। इन लोगों के लेखों को पढ़ने से मन में ऐसा संस्कार जमता है कि मानो ये जनता से अलग हट कर, या तो बहुत ऊंचाई से, या दूरी से अथवा नीचे स्तर से बातें कर रहे हों। ऐसा नहीं मालूम होता कि बोलने वाला जनता के बीच का ही व्यक्ति है। यह काम एडिसन ने किया। उसने विद्वद्वाणी और जनवाणी को एक कर दिया। एडिसन के शब्दों

में ही उसकी महत्वाकांक्षा यह थी "कहा जाता है कि सुकरात ने दर्शन को देवताओं के स्वर्ग से उतार कर साधारण मनुष्यों के बीच ला प्रतिष्ठित किया। मेरी महत्वाकांक्षा यही है कि लोग जब मेरी चर्चा करें तो कहें कि मैंने दर्शन को बन्द कोठरियों, पुस्तकालयों, और कालेजों से निकाल कर क्लबों में, सभाओं में, चाय और काफी-गृहों में ला खड़ा किया।"

एडिसन की साहित्यिक कृतियों में प्रमुख स्थान उसके निबन्धों का है। इनके सिवाय इसकी दो अन्य गद्य की पुस्तकें हैं Remarks on Italy Dialogues on Medals जिनका पठन-पाठन अजकल कम हो गया है परन्तु उनको पढ़ कर आज भी अंग्रेजी भाषा की प्रवाहमयी शैली का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उसकी काव्य-पुस्तक Campaign की प्रशंसा तो उसके विरोधी दल वालों ने भी की है। उसने तीन नाटक लिखे हैं Rosamond, The Drummer, cato.

# सैमुअल टेलर कालरिज

## ( १७७२-१८३४ )

सैमुअल टेलर कालरिज का जन्म २१ अक्टूबर १७७२ ई० को डेवनशायर में हुआ था। अंग्रेजी काव्य के इतिहास में जो युग रोमांटिक-युग के नाम से प्रसिद्ध है उसका यह सर्वश्रेष्ठ नेता था और पुजारी था। इसकी कविताओं में स्वच्छन्दतावादी ( Romantic ) चिन्तनधारा की झलक जितनी नहीं मिलती उतनी इसकी जीवनी में मिलती है। इसका सारा जीवन ही रोमांस है—वही निर्बन्धता, स्वच्छन्दता, फक्कड़पन, अपने भावों की निर्जनता में कल्पना पर डूबने और उतराने वाला व्यक्ति ! इसका मस्तिष्क बड़ा ही उर्वर था, उसमें सदा नई नई कल्पनायें आती ही रहती थीं और वह उन्हें क्रियात्मक रूप देने को अग्रसर भी होता था। पर परिणाम वही होता जो कल्पना में ही निवास करने वालों का होता है। कठोर वास्तविकता की टक्कर से कल्पना के हवाई महल सब चूर-चूर हो जाते थे।

एक बार कल्पना में बात आई कि अमेरिका में चल कर कुछ भूमि खरीदी जाय और वहाँ एक ऐसी दुनिया बसाई जाय जहाँ मनुष्य संसार की साधारण चिन्ताओं से मुक्त पारस्परिक स्नेहपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। इस Utopia ( कल्पना-जगत ) का जो हास्यास्पद अन्त हुआ वह जगद्विख्यात है। इस काल्पनिक गणतन्त्र के निर्माण के संकल्प में सहमत होने वाले प्रसिद्ध कवि साउदे भी थे और एक और Shadrach नामक कोई सज्जन थे। ये किसी वृद्ध धनाढ्य महिला के यहां नौकरी करते थे और इन्हें विश्वास था कि इस संकल्प को कार्यान्वित करने के लिये जिस द्रव्य की आवश्यकता होगी वह इस दानवीर महिला से सहज ही प्राप्त हो जायेगा। पर जब इस संकल्प की रूप-रेखा उस महिला के सामने रखी गई तो उसने साउदे और सैडरेश दोनों को बरसते हुए पानी में घर से बाहर कर दिया।

एक बार कालरिज सड़क पर घूम रहे थे। कल्पना का झक जो सवार

हुआ तो उन्होंने समझा कि मैं ग्रीक दन्तकथाओं का Leander हूँ और Hellespont नामक वैतरणी नदी पार कर अंधेरी रात में Hero नामक पुजारिन से मिलने जा रहा हूँ। बस क्या था। लगे तैरने के अन्दाज पर हाथ पैर संचालित करने। उसका हाथ एक राहगीर के कोट के पाकेट पर पड़ा। "दौड़ो, पकड़ो, एक जेबकट मेरी जेब काटने की कोशिश कर रहा है" वह चिल्ला उठा। बाद में जब रहस्य खुला तो किसी तरह वातावरण में शान्ति आई।

कालरिज का महत्व इसमें नहीं कि उसने बहुत-सी गद्य और पद्य की पुस्तकों का प्रणयन कर साहित्य की श्री वृद्धि की। The ancient mariner और Christabel यही दो कवितायें हैं जो आकार प्रकार में कुछ बड़ी सी हैं, Kubla Khan तो बहुत ही छोटी है। Kubla Khan के बारे में तो कथा प्रसिद्ध ही है कि यह स्वप्न काव्य है। एक बार कालरिज अफीम की पिनक में सोया रहा। तीन घन्टे के पश्चात् जब जगा तो तुरन्त ही कलम लेकर कविता लिखने बैठ गया जिसे उसने स्वप्न में देखी थी। थोड़ी सी ही स्वप्न दृष्ट पंक्तियां लिख सका था कि उसके एक मित्र महोदय मिलने के लिये आ गये और एक घण्टे जमे रहे। तब तक वह स्वप्न, वह जादू, वह कल्पना दूर हो चुकी थी। कविता अधूरी रह गई। ये कालरिज के द्वारा लिखी कवितायें परिणाम में भले ही थोड़ी हों पर १९ वीं शताब्दी की श्रेष्ठतम कविताओं की श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

The Rime of the Ancient Mariner में आत्मा की समुद्र यात्रा का वर्णन किया गया है। इसमें जो काल्पनिक चित्रमयता है वह पाठक को आश्चर्य चकित कर देने वाली है। वह एक साधारण मस्तिष्क से इतनी दूर की चीज है कि इस कविता को पढ़ कर लोगों के होश हवास गायब हो गये थे। मानिङ्ग पोस्ट नामक पत्रिका में एक अज्ञातनामा कविता कालरिज को सम्बोधित कर लिखी गई थी और जो Ancient Mariner की आलोचना के रूप में थी—

Your Poem must eternal be
Dear sir ! it can not fail
For it is incomprehensible
And with out a head or tail

अर्थात् महोदय यह आपकी कविता शाश्वत है, यह कभी भी चूकने वाली नहीं क्योंकि इसकी सींग का पता है न पूंछ का और यह अबोध तो है ही !

कालरिज का महत्व इस बात में है कि उसके व्यक्तित्व के स्पर्श ने बहुतों की प्रतिभा को जागृत किया और उनको साहित्यिक रचनाओं के लिये प्रेरणा दी। साउदे जब तक कालरिज के साहचर्य में नहीं आया तब तक यह किसी को पता नहीं था कि उसमें कितनी साहित्यिक प्रतिभा है। वर्डस्वर्थ की सच्ची और मार्मिक कवितायें कालरिज के संसर्ग के बाद ही उपज हैं। हैजलिट जैसा स्वाभिमानी व्यक्ति कदाचित ही कोई हो पर उसने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि कालरिज ही एक ऐसा व्यक्ति है जिससे उसने कुछ सीखा है। दूसरे शब्दों में १७९८-१८३४ के बीच में कोई ऐसा साहित्यिक आन्दोलन नहीं था जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में कालरिज से प्रेरणा न प्राप्त की हो। उसके आलोचनात्मक लेख जो Literaria Biographia नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं, आज भी आलोचना के श्रृंगार हैं।

इतना होने पर भी कालरिज की जीवनी एक करुणा और दुःखान्तक कहानी है। उसके व्याख्यान के सुनने वालों ने कहा था A god in ruins अर्थात् कालरिज एक सर्वस्वापहृत देवता है। अफीम के नशे के फेर में पड़ कर मनुष्य का किस हद तक पतन हो सकता है कालरिज का जीवन उसका जीता जागता उदाहरण है।

कालरिज की गद्य-पुस्तक केवल तीन हैं—Literaria Biographia, Friend, Table Talk. कवितायें अनेक हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

Christabel,
Rime of Ancient Mariner,
Kubla Khan,
Dejection,
An Ode,
Ode To Tranquillity
The Fall of Robespierre,
Youth and Age,
Zaplolya, a Christian Tale,
Melancholy,

# परसी विशी शेली

## (१७६२-१८२२)

परसी विशी शेली का जन्म ससेक्स प्रदेश के होरशाम नगर के समीप फील्ड प्लेस नामक स्थान पर १७६२ ईस्वी सन् के ४ अगस्त को हुआ था। इनका अपूर्व सौन्दर्य, भूरी-भूरी आँखें, घने और काले घुंघराले केश-कलाप, अपार्थिव शारीरिक वर्ण लोगों के ध्यान को हठात् अपनी ओर आकर्पित कर लेते थे। उसके देवोपम सौंदर्य को देखकर किसी स्वर्गीय देवदूत की कल्पना जाग्रत हो उठती थी। पर इस सुन्दर वाह्यावरण के अन्दर एक बड़ी ही ज्वलंत, विद्रोही, संसार की सारी मान्यताओं और व्यवस्था को चकनाचूर कर देने वाली आत्मा का निवास था। इसने ईटन के स्कूल में शिक्षा पाई, तत्पश्चात् आक्सफोर्ड में विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये भी गया। पर सदा और सब जगह विद्रोही रहा। थोड़े से भी वाहरी दवाव तथा अनुशासन की मात्रा की प्रतिक्रिया उसके अन्दर भयङ्कर होती थी। उसकी इच्छा शक्ति में अपूर्व दृढ़ता थी और स्कूल के नियम-बन्धन उसे भयानक अत्याचारिता की मूर्त्ति की तरह दीख पड़ते थे। यही कारण था कि वह जहाँ भी जाता लोकप्रिय नहीं हो पाता, लोग उसे गलत समझते और वे भिन्न-भिन्न रूप से उसे तंग करते। शेली की दृष्टि में एक ही आदमी संसार में था जिसे सज्जन कहा जा सकता था और वह था विलियम गाडविन, जिसकी पुस्तक Political Justice में उल्लिखित विचारों ने शेली के हृदय में अपूर्व आनन्दोल्लास का संचार कर दिया था। यदि गाडविन ईश्वर होता और उसके बनाये संसार में शेली का जन्म होता तो कैसा आनन्दमय जीवन होता!! मजदूरों को दो ही घंटा काम करना पड़ता, बंधनों का नाम भी न होता, धर्म के स्थान पर दर्शन की बौद्धिकता का बोलबाला होता, वैवाहिक बन्धन के बदले स्वच्छन्द प्रणय का व्यापार रहता, यहीं पृथ्वी स्वर्ग बनकर रह जाती। ऐसा ही शेली था जो प्रेम की

लौ अपने हृदय में अन्त तक जगाये रहा जिसकी एक क्षीण झलक पाकर भी आज का मानव मस्त हो झूमने लगता है।

जब शेली आक्सफोर्ड में विद्याध्ययन कर रहा था तो उसने एक निबंध लिखा The Necessity of Atheism. अर्थात् निरीश्वरवाद की आवश्यकता। इस अपराध के कारण वह वहाँ से निकाल दिया गया और जब वह घर आया तो पिता ने भी पैतृक उत्तराधिकार से वंचित कर दिया। पर शेली को इन बातों से क्या? इसके बाद शीघ्र ही वह एक हेरियट नामक लड़की के साथ भाग निकला और शादी की मानों 'दरिद्रता की इस मंगलमय स्थिति' (Blessed state of pennilessness) का समारोहोत्सव विधान मनाया। उसने इङ्गलैण्ड और आयरलैण्ड में पर्याप्त भ्रमण किया। हेरियट से सम्बन्ध-विच्छेद के बाद उसने दार्शनिक गाडविन की पुत्री मेरी से विवाह किया। मेरी के साथ बराबर देश पर्यटन करता रहा। अन्त में १८२२ के १६ वीं जुलाई को जब वह नाव में जल-विहार कर रहा था कि तूफान आया और वह वहीं पर डूब गया।

शेली सदा संसार से दुःख और दारिद्र्य को दूर कर यहीं पर स्वर्ग की सृष्टि करने का स्वप्न देखता रहा पर उसका जीवन सदा दुख और पीड़ा में ही बीता। एक एक करके उसके सारे प्रिय-पात्र तथा श्रद्धा-पात्र मरते चले गये। उसके अन्तिम दिन तो मानों विदा-समारोह से हों। उसके दो पुत्रों—बेबी क्लारा और विली—के वियोग की चोट तो कभी भरी ही नहीं। वह अपनी कल्पना के संसार और कविताओं की रचना में इस तरह तल्लीन रहा करता कि उसे भोजन करने की भी सुधि नहीं रहती थी। उसके अध्ययन कक्ष में मेरी भोजन की सामग्री रख आती थी। पर अनेक बार ऐसा होता था कि मेज पर भोजन ज्यों का त्यों रखा रह गया और संध्या समय मेरी को बुलाकर शेली पूछता था कि "मेरी, मैंने भोजन कर लिया क्या?" अपने स्वप्नों के संसार में रमते रहने वाला शेली इस संसार के लिए अपरिचित-सा ही था। वह मनुष्यों के समाज से बढ़कर प्रकृति के साहचर्य में ही जीवन व्यतीत करना अधिक पसन्द करता था।

शेली की मुख्य मुख्य कवितायें:—

Adonais.<br>
The Revolt of Islam.<br>
Prometheus Unbound.<br>
Queen Mab.

## परसी बिशी शेली

Love's Philosophy.
Charles the First.
Alastor.
To the Skylark.
Ode to the West Wind.
A Dream of Unknown.
The Censi.

# लेसिंग

## ( १७२६-१७८१ )

लेसिंग आधुनिक जर्मनी का सर्वप्रथम आलोचक है। इसके साहित्यिक जीवन को तीन युगों में विभक्ति किया जा सकता है, प्रथम युग ( १७४६-१७६० ई० )। इस युग मे उसने कुछ ग्रन्थ लिखे जिनमें Miss Sara Sampson और Litteraturbrife मुख्य हैं। दूसरा युग ( १७६०-१७७० ई० )। इस युग के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं Minna von Barnhelm, Laokoon, Hambur-Gische Dramaturgie. तृतीय युग (१७७०-१७८१ ई०) इस युग की मुख्य पुस्तकें Emilia-Galotia, Auti-Goeze और Nathan-Der-Weise हैं।

लेसिंग अपने समय का सर्वश्रेष्ठ विद्वान था। धर्मशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, साहित्य के इतिहास तथा कलाओं के सम्बन्ध में उसकी गति अप्रतिहत थी। विशेषतः साहित्य की ऐतहासिक प्रगति के ज्ञान में तो उसकी समता कर सकने वाला आज भी कठिनता से मिले। कलाओं के सृजन के अन्तर्भूत सिद्धान्तों की परख करना, इन सिद्धान्तों को घटकावयवों में बाँटकर देखना, तथा इनके परिणामों का मूल्यांकन करना—ये सब गुण तो लेसिंग में थे ही पर इसकी विद्वता ने इन सब गुणों के साथ मिल इसे अपने युग का सर्वश्रेष्ठ आलोचक बना दिया था। कथाओं पर उसने निबन्ध लिखे हैं, मूर्तिकला, चित्रकला, और काव्य की सीमा इसने अपनी लाकून नामक पुस्तक में निर्धारित की है, अपनी Dramaturgie में इसने ट्रेजेडी के बाह्य और आन्तरिक रूपों और व्यवहारों पर सांगोपांग विचार किया है।

लेसिंग को लोगों ने Emancipated classic कहा है अर्थात् वह रोम और ग्रीस के प्राचीन क्लासिक साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों में विश्वास तो करता था पर अन्धविश्वास नहीं। वह सच्चे अर्थ में आलोचक था और अपने ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा उसने हरडर और गेटे के रोमाण्टिक सिद्धान्तों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। दर्शन के क्षेत्र में जो स्थान कैण्ट का है वही साहित्य-शास्त्र में लेसिंग का है। जैसे कैण्ट ने हीगेल और फिश्टे के आगमन की सूचना दी वैसे ही लेसिंग ने जर्मनी में रोमान्सवाद के स्वागतार्थ भूमि तैयार की।

# जान रस्किन

( १८१९—१९०० )

जान-रस्किन का जन्म १८१९ के फरवरी महीने में ८ तारीख को हुआ था। इसके पिता शराब के व्यापारी थे और सम्पन्न व्यक्ति थ। रस्किन की शिक्षा पहले तो घर पर ही निजी ढंग पर होती रही पर बाद में उसने आक्सफोर्ड विश्व विद्यालय में जाकर नियमित रूप से ज्ञानार्जन किया और १८४२ में वहाँ की डिग्री प्राप्त की। इसने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। कुछ कला पर हैं, कुछ अर्थ शास्त्र पर, कुछ तो व्याख्यान हैं और कुछ कथायें हैं। १९ वीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक क्रान्ति दोनों ने मिलकर मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य जीवन दोनों में भयानक अव्यवस्था पैदा कर दी थी। मनुष्य की चिन्तनधारा ने यांत्रिक रूप धारण कर लिया था जो कारण और कार्य सिद्धान्त की स्थूलता में जीवन को समझ लेने की तैयारी कर रही थी। बाहरी व्यावहारिक यंत्रों के आविष्कार ने मानव के मूल्य को कम कर दिया था, दरिद्रता बढ़ने लगी थी और मनुष्य से बढ़कर द्रव्य की पूजा होने लगी थी। इन दोनों प्रवृत्तियों की प्रगति को रोकने के लिये अपनी पैनी लेखनी और सजीव वाणी का उपयोग किया।

Modern Painters, Seven Lamps of Architecture, Stone of Venice नामक पुस्तकों में प्राकृतिक दृश्यों के हरेक पहलू की कलात्मक उपयोगिता पर, यूरोप के प्रत्येक उच्च कोटि के चित्रों, मूर्तियों तथा कलात्मक भवनों पर आलोचनात्मक दृष्टि से, बड़ी ही सूक्ष्मतापूर्वक वेगपूर्ण भाषा और विश्वासोत्पादक कल्पना के साथ विचार किया गया है। अब तक काव्य को छोड़कर अन्य कलायें आलोचना के क्षेत्र से अलग ही पड़ी थी। रस्किन ने लोगों के अन्दर सब कलाओं को मेल में लाकर विचार करने की प्रवृति जागरित की।

रस्किन कला में सत्य का पुजारी था। इस बात को लेकर कुछ लोगों ने रस्किन पर कला को धर्म के बंधन में जकड़ने का दोषारोपण किया है। पर रस्किन ने धर्म और नीतिमत्ता का प्रयोग जिस व्यापक अर्थ में किया है उसे ठीक से समझ लेने पर यह दोषारोपण उस पर नहीं किया जा सकता।

# रोमांटिक साहित्य शास्त्र

## शास्त्रीय (Classical) और स्वच्छन्दतावादी (Romantic) साहित्य

साहित्य और विज्ञान दोनों का ध्येय एक ही है अर्थात् सत्य की अभिव्यक्ति। दोनों ही जगत तथा उसकी प्रगति पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं और इस प्रयत्न के फलस्वरूप जिस तथ्य की अभिव्यक्ति होती है उसको संसार के समक्ष उपस्थित करते हैं। पर दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर होता है और इसी कारण दोनों की अभिव्यक्ति के प्रकार में विभिन्नता हो जाती है। विज्ञान का सत्य निरपेक्ष सत्य होता है और साहित्य का सत्य होता है सापेक्ष। विज्ञान संसार के विविध व्यापारों को सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, उन पर विचार करता है, उनको परिचालित करने वाले नियम सूत्रों का पता लगाकर सत्य ( संसार ) की व्याख्या करता है। विज्ञान सत्य को अपनी पारिपार्श्विक स्थिति से तोड़कर, उसको सारी दुनिया से अलग कर उसे एक उच्च सिंहासन पर स्थापित कर देता है जिसकी ओर हम ताक भर सकते हैं पर जिसकी ओर अग्रसर होने की प्रेरणा नहीं होती। सत्य को बना दिया जाता है एक देवता, उसके लिए एक मन्दिर की स्थापना कर दी जाती है और हम जा कर उसके प्रति श्रद्धा और पूजा के भाव अर्पित कर आते हैं। माली वाटिका से सुगन्धमय पुष्पों को एकत्र करता है और विभिन्न प्रक्रिया द्वारा उनमें से इत्र निकालकर हमारे सामने रख देता है। ऐसी बात नहीं, कि उससे हमें लाभ नहीं। लाभ को कौन अस्वीकार कर सकता है? जब हमारा मस्तिष्क थोड़ी सी क्लान्ति का अनुभव करने लगता है उस समय इत्र की एक वास हमें तरो ताजा कर देती। पर न जाने क्यों उतने से हमारे चित्त को समाधान नहीं प्राप्त होता, हमारे चित्तमें किसी चीज़ का अभाव खटकता रहता है। हम तो वाटिका में जाकर चहकते हुए पुष्पों को चहकती और फुदकती चिड़ियों और भ्रमरावलियों की मधुर गुंजर से परिवेष्टित देखना चाहते हैं जिसकी सुगन्ध को शीतल मन्द समीर वरदान की तरह बिखेरता सा हो।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह प्रकृति की अन्य वस्तुओं के बीच में अपने को प्रतिष्ठित कर ही अपनी सार्थकता की अनुभूति प्राप्त करता है, अकेले तो वह अपने को भूत सा पाता है और यह विज्ञान है जो इस बात पर तुला है कि हमें संसार से अलग कर हमें ऐसे निर्जन एकान्त स्थान में ले जाए जहाँ मन्दिर में सत्य के देवता की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो।

कल्पना कीजिये कि आप एक सुरम्य पार्वत्य प्रदेश से होकर यात्रा कर रहे हैं। चारों तरफ वन के सुन्दर-सुन्दर हरे भरे वृक्ष अपने पूर्ण यौवन के उन्माद को आपके हृदय में डालकर आपको उन्मत्त कर रहे हैं। सामने यह गौरव मंडित पर्वत शिखर अपना मस्तक ऊंचा किये खड़ा है। इतने में आप क्या देखते हैं कि एक विशाल काय हाथी उस पर्वत पर से फिसला और चिंघाड़ता हुआ नीचे की ओर लुढ़कने लगा। एक वैज्ञानिक कहेगा कि पर्वत की स्थिति ४० या ५० डिग्री के कोण पर थी, हाथी का आयतन इतना था और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति इतने जोरों पर काम कर रही थी अतः वह इतने मिनटों पर ज़मीन की सतह पर इतने वेग से लुढ़कता आ पहुँचेगा। पर उस घटना का इतना सा ही वर्णन क्या पर्याप्त कहा जायगा? यह तो एक साधारण सा वर्णन, है, जो किसी समय, किसी अवस्था में, किसी वस्तु का हो सकता है। गिरने वाली वस्तु हाथी न होकर एक पत्थर का टुकड़ा होता, जिस स्थान से वह हाथी फिसल रहा है वह पर्वत न होकर एक गगन चुंबी अट्टालिका की सीढ़ी होता, वह स्थान जहां यह घटना घट रही है, जंगल प्रदेश न होकर एक जन-संकुल नगरपथ होता तो भी वैज्ञानिक के वर्णन में किसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। पर क्या यह कभी भी माना जा सकता है कि स्थान, काल और वस्तु की विशिष्टता का अपना कुछ भी महत्व नहीं होता? उस निर्जन वन पथ में जहां आप प्रकृति की गोद में एक सुख और शान्ति की सांस ले रहे थे, वहां एकाएक ऐसी घटना घट जाने पर आपके हृदय में नियति की चंचलता पर जो वेदना के भाव उत्पन्न हुए, उन्नत मस्तक पर्वत शिखर की ओर देखकर आपके हृदय में जो उच्चता के भाव आये, वन के विविध पशु पक्षियों को देखकर परमात्मा की विचित्र कारीगरी के प्रति जो आश्चर्य मिश्रित भाव उत्पन्न हुए, उसके वर्णन करने की सामर्थ्य विज्ञान के पास कहां है? और फिर भी ये चीजें क्या इतनी तुच्छ हैं कि जीवन में इनके महत्व को विस्मृत कर दिया जाय? यदि इनका महत्व हमारे हृदय में नहीं है तो मनुष्य और पत्थर में अन्तर ही क्या रह गया? कविता या साहित्य का महत्व इसी बात में है कि जीवन का, सत्य का और संसार

का यह पहलू जो विज्ञान की पकड़ में नहीं आ सकता उसको ही अपने व्यापार क्षेत्र की सीमा के अन्दर लाकर अपनी शक्ति को सार्थक करता है। दूसरे शब्दों में कविता, विज्ञान की तरह, हमारे जीवन की गतिविधि, सुख दुःख की भावनाओं से दूर रहने वाले गति हीन सत्य को प्रकाशित नहीं करती है। कविता का सत्य गति शील होता है, वह अपने साथ मानवता की पूरी विभूति साथ लिये होती है, वह सत्य को मनुष्य को विविध भावनाओं के बीच में रखकर ही देखती है और वह सत्य को इत्र की तरह रुई के फाहे में बन्द नहीं कर देती। यही कारण है कि उसकी अपील में जो मार्मिकता होती है वह विज्ञान के कटु सत्य में नहीं होती। संभव है कि वैज्ञानिक द्वारा किये गये किसी वर्णन को आप पढ़ें और ऊंह कह-कर आप आगे बढ़ जाँय और अपने दैनिक कार्य व्यापार में संलग्न हो जाँय। पर यह संभव नहीं कि एक कवि के वर्णन को पढ़कर आप एक क्षण उसमें तल्लीन न हो जांय। कवि एक विचित्र रसायनिक प्रक्रिया द्वारा आपको अन्दर से परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है और वह क्रिया इतनी सूक्ष्म होती है कि उसका आभास पाना कठिन होता है।

कवि सत्य को प्रकृति और जगत के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है। यह प्रकृति और जगत नित नये-नये रूप धारण करते रहते हैं, प्रतिक्षण परिवर्तन की क्रिया इनमें चलती रहती हैं, अभी इस स्थान को चन्द्रमा अपनी शरद् ज्योत्सना से सिंचित कर रहा है, दूसरे समय वहाँ निदाघ की प्रचण्ड ज्वाला भी चल सकती है और तीसरे समय मूसलाधार वृष्टि भी हो सकती है। यदि इस विविध नामरूपात्मक जगत के व्यापार से संलग्न सत्य को देखना और उसकी अभिव्यक्ति करना है तो यह निश्चित है कि आश्रय भेद के अनुसार उसके वाह्य रूप में अन्तर होगा और उनसे उत्पन्न हमारे मनोभाव भी भिन्न होंगे और परिणामतः उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार में विविधता होगी। काव्य प्रकाश के प्रसिद्ध साहित्य शास्त्री मम्मट ने महाभाष्यकार के "गौः शुक्लश्चलः डित्थः" (डित्थ नामक शुक्ल बैल चल रहा है) वाक्य पर विचार करते हुए कहा है कि इस वाक्य में चार प्रकार के शब्द हैं—गौ जातिवाचक शब्द है, शुक्ल गुणवाचक, चलः क्रियावाचक और डित्थ संज्ञावाचक। यद्यपि ये चारों शब्द एक ही स्वरूप के हैं तथापि अपने आधार भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं ठीक वैसे ही जिस तरह एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग, दर्पण वा तैल आदि में पड़ने के कारण भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। 'गुण-क्रियायदृच्छानां वस्तुत एक रूपाणामप्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य

मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् ।" चूँकि कविता सत्य को जीवित, स्पंदित और गतिशील रूप में देखना चाहती है और अपने पाठकों को उसी रूप में देखने के लिए निमंत्रित करती है अतः उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में अन्तर होता रहता है। जब श्रीकृष्ण ब्रज में थे और गोपियों का समय प्रणय केलि में व्यतीत होता था तो उस समय यमुना का तट, कदम्ब की छांह और चांदनी रात ये सब चीजें एक आनन्दोल्लास से थिरकती हुई गोपियों के हृदय में रसोन्माद की सृष्टि कर देती थीं पर ये ही चीजें वियोगावस्था में सांप की तरह काटने दौड़ती थीं और गोपियों को कहने के लिए प्रेरित करती थीं कि "पिया बिन बिरहिन कारी रात"। ठीक उसी तरह जब-जब राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक परिस्थितियों के कारण लोगों की विचारधारा में परिवर्तन होने लगा है, लोगों के भाव और भावनायें बदलने लगी हैं, उनकी रुचि में विभिन्नता आने लगी है, तो उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार अर्थात् कविता के बाह्य स्वरूप में भी परिवर्तन होने लगा है। किसी देश के साहित्य को ले लीजिये। उसके भिन्न-भिन्न युगों के विभाजन से यह बात स्पष्ट हो जायगी। हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल, भक्तिकाल और रीतिकाल का विभाजन ये सब वही कथा कह रहे हैं। अंग्रेजी काव्य-साहित्य में भी हम सात ऐसे युगों को छांट सकते हैं जिनमें आंग्ल जाति की भिन्न भिन्न परिस्थितियों ने लोगों को भिन्न भिन्न ढंग से विचार करने के लिए बाध्य किया है, उनके मनः स्थिति को परिवर्तित किया है और यह परिवर्तन नये नये प्रकार की भावाभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है। इन सातों युगों के नाम ये हैं—आंग्लो-सेक्सन युग, रोमान्सों का युग, चासर का युग, ऐलिज़ाबेथन युग, क्लासिकल युग (१६६०-१८००) नूतन स्वतंत्रतावाद का युग (१७१८-१८३२) विक्टोरियन युग।

हमारा सम्बन्ध यहाँ केवल रोमान्टिक युग की नूतन स्वातन्त्र्यवादी (१७६८-१८३२) कविता से है। यह रोमान्टिक कविता अपने पूर्वस्थित क्लासिकल कविता के प्रति विद्रोह और प्रतिक्रिया के स्वरूप उत्पन्न हुई थी। अतः रोमान्टिक कविताओं के साथ २ क्लासिकल युग की काव्यधारा पर कुछ विस्तार से कहना होगा। पर कविता पृथ्वी पर आसमान से टूटकर गिरी हुई चीज नहीं होती, अपने आस पास की मिट्टी से ही रस खींचती है अतः शृंखला की कड़ियों को जोड़ने के लिये और युगों की कविता के स्वरूप पर सरसरी दृष्टि से विचार कर लेना अच्छा होगा।

आंग्ल-सेक्सन युग की कविता में ट्यूटनिक जाति के सीधे साधे, आदिम

और मौलिक भावों और विचारों का प्रतिविम्ब मिलता है। किसी नये विचार या वस्तु के सम्पर्क में आने के कारण जिस तरह मनुष्य के अन्दर एक आश्चर्य और कौतूहल के भाव उत्पन्न होते हैं, और वह चौंक कर अपनी चारों ओर देखता है, वह अपनी पुरानी धारणाओं का संशोधन करता है, उसके मानस व्यापार में एक हलचल होने लगती है। ठीक यही बात हम इस युग की कविता में पाते हैं। ट्यूटनिक जाति प्रथमबार इसाई धर्म के सम्पर्क में आई थी, उसके विचारों में परिवर्तन हो रहा था, वह नूतन परिस्थितियों में अपना सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न कर रही थी। इसकी स्पष्ट छाप उस समय की कविता में मौजूद है। इसमें संघर्ष और वीरत्व की छाप है।

दूसरे युग को रोमान्स का युग कहते हैं। इसमें आर्थर और चार्ल्स दी ग्रेट की गाथाओं तथा इनसे मिलती जुलती गाथाओं की प्रधानता रही। इसमें हम देखते हैं कि प्राचीन युग की वर्वर जातियों की युद्ध लिप्सा और संघर्ष-प्रियता एक दूसरा ही रूप धारण कर रही है। पुरानी युद्ध लिप्सा के स्थान पर त्याग की भावना, कष्ट सहिष्णुता की भावना आ रही है और एक शक्ति-शाली व्यक्ति निर्बल और निःशक्त के त्राण और उद्धार के लिए अपने को खतरे में डालने से भी नहीं हिचकता। एक अंग्रेजी के शब्द के सहारे कहें तो कह सकते हैं कि युद्ध-लिप्सा का स्थान Chivalry ले रही है। साथ ही यह भी देखने में आता है कि ईसाई धर्म की आध्यात्मिकता वर्वर जातियों की आध्यात्मिकता से मिलकर एक ऐसे लोक की सृष्टि कर रही है जो रहस्य से ओतप्रोत है, जिसमें इन्द्रजाल की, देवी देवताओं की, परियों की, भूतों की, मन्त्र तन्त्रों की, स्वर्ग और नरक की प्रधानता हो चली है। देवता लोग हमारे संघर्षों में साथ देते हैं। प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियां हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं और हम एक ऐन्द्रजालिक वृत्त में घूमते दिखलाई पड़ते हैं।

तीसरे युग को चॉसर का युग कहते हैं। इसकी मुख्य-मुख्य विशेषतायें चॉसर के Canterbury Tales में दिखलाई पड़ती हैं। इसमें पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया है। लोग रोमान्स की अतिरंजित और सनसनी खेज कथाओं से ऊब गये हैं और साहित्य में जीवन की वास्तविकता देखना चाहते हैं। चौथे युग अर्थात् एलिज़ाबेथन युग में हम रोमान्स के प्रत्यावर्तन की ओर क्षीण प्रवृत्ति का आभास पाते हैं जैसा कि स्पेन्सर की कुछ कविताओं और फ्लेचर तथा शेक्सपियर के नाटकों से पता चलता है। पर वह रिनाईसेंस का युग था। ग्रीक साहित्य के सम्पर्क से लोगों का ज्ञानक्षितिज विकसित हो

चुका था, लोग यह विश्वास करने लगे थे कि Knowledge is Power (ज्ञान ही शक्ति है) अतः लोगों का ध्यान जीवन के गम्भीर सत्यों की सजीव से सजीव भाषा की अभिव्यक्ति की ओर लगा रहा। अतः विचारों की भव्यता, भाषा की प्रौढ़ता तो मिली पर रोमान्स के हवाईपन और पिलपिलापन के पैर न जम सके। पर अन्त में आकर हम जब Lily, Donne और Cowley की गीत कविताओं को देखते हैं तो कहना पड़ता है कि भावों की सच्ची स्वाभाविक अभिव्यक्ति से कवि उदासीन हो कृत्रिम अलंकार, भाषा की झूठी सजावट तथा बनाव श्रृंगार की ओर झुक गया है।

१६६० से लेकर १८०० तक के युग को क्लासिकल युग कहते हैं। एलिजाबेथन युग के अंतिम काल में आकर साहित्य में जो एक कृत्रिमता का आतिशय्य हो गया था, उसकी प्रतिक्रिया इस युग मे परिलक्षित होती है। इस युग में लेटिन, ग्रीक और फ्रेंच एकाडिमी से प्रभावित फ्रेंच साहित्य का अंग्रेज़ी साहित्य पर प्रभुत्व रहा, साहित्यिकों का ध्यान साहित्य के बाह्य संगठन और रूप-सौष्ठव की सादगी की ओर अधिक रहा, साहित्य के पात्र अभिजात्य वर्ग से लिये जाते रहे और प्रयत्न यह रहा कि इनमें क्लासिकोचित गम्भीरता तथा उच्चकुलीनता और शालीनता में किसी तरह की कमी नही आने पावे। क्लासिकल युग की विचारधारा और उसके साहित्य की विशिष्टताओं की चर्चा शीघ्र ही विस्तार से होगी और यह बतलाने की कोशिश की जायगी कि किस तरह इस युग का प्रारंभ तो हुआ था साहित्य की बढ़ती कृत्रिमता को रोकने के लिये, साहित्य में सादगी और सफाई का नारा बुलन्द करने के लिए पर परिणाम ठीक उसके विपरीत हुआ। भारत के इतिहास के पढ़नेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि कबीर आदि प्रचारकों ने बीड़ा उठाया था जाति पांति तोड़ने के लिये, धर्म के बाह्य अनुष्ठान से आडम्बर को दूर कर एक रूपता लाने के लिये, लोगों को एकता के सूत्र में बांधने के लिये, पर उनके शिष्यों की बनावटी जोश और खरोश के हाथों पड़कर इस आंदोलन की परिणति किस रूप में हुई यह सर्वविदित है। जातिपांति का बंधन तो टूटा नहीं, बाह्य आडम्बर में कमी आई नहीं बल्कि एक और नई जाति बनकर जातियों की संख्या में वृद्धि ही होकर रहा। कृत्रिमता के विरुद्ध जेहाद बोलने की प्रतिज्ञा लेकर उठने वाले इस साहित्यिक आन्दोलन पर लेटिन और ग्रीक कवियों का भूत इस तरह सवार था कि उनके अनुकरण करने मात्र को छोड़कर साहित्यिकों का कर्तव्य ही और कुछ नहीं रह गया। R. A. Scott James ने अपनी The making of Literature में क्लासिक और

रोमांटिक की चर्चा करते हुए लिखा है—'It was as if by some cunning of the Time spirit that the classics, first smmoned to the aid of those who rebelled aganist medieval repression, were afterwards snceossfnlly used to crush the rebels, they were actually enlisted on the side of the aristocratic anthority, pedantic restrainι, and critical convention' अर्थात् "क्लासिक तो मध्यकालीन दमन के विरोध करने वालों की सहायता करने के लिये पुकारे गए थे पर समय की विचित्रता तो देखो कि (सहायता देना तो दूर रहा) आगे चलकर विद्रोहियों को सफलतापूर्वक कुचलने के काम के लिए उनका उपयोग होने लगा। अभिजात्य वर्ग में जो एक अधिकार मद होता है, विद्वानों में दूसरों पर रोक-थाम करने की जो प्रवृत्ति होती है, आलोचकों में आलोचना को कुछ परम्परागत नियम और कानून के शिकंजे में जकड़ देने की जो कमजोरी होती है, इन्हीं को इन लोगों के द्वारा समर्थन मिलने लगा।" साहित्यिक प्रेरणा का आदिश्रोत सूख सा चला। ऐसा मालूम होने लगा कि कविता के दिन लद गए, कविता की देवी मर गई अब वह पुनर्जीवित नहीं हो सकती। प्रसिद्ध पुस्तक The Four Ages of poetry (कविता के चार युग) के लेखक टामसलव पिकांक, मेकाले, और हेजलिट जैसे विचारकों ने तो यहां तक कहना प्रारम्भ किया कि विज्ञान के निरन्तर प्रगतिशील प्रवाह ने कविता की जान निकाल ली है और उसमें पुनः प्राण प्रतिष्ठा करना पत्थर पर तीर मारना है जो नष्ट होकर ही रहेगा चाहे वह चोखा ही क्यों न हो। पर काव्य तो जीवन और मानवता की ही अभिव्यक्ति है, जीवन तो अपने को प्रगटित करके ही रहता है, उसकी उमड़न बंधन को तोड़ देती है। इस गला घोंट देने वाली परिस्थितियों में भी मानों कविता जीवनी शक्ति एकत्र कर रही थी और अपनी सारी शक्ति के साथ उमड़ पड़ी। रोमांटिक युग (१७६८-१८५०) की वह काव्य-समृद्धि के दृश्य सामने आये जिसकी दीप्ति से सारा यूरोप प्रदेश, फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंड सबके सब उद्दीप्त हो उठे, जिसके अभिसिंचन से सिक्त होकर यूरोप का सारा काव्योद्यान लहलहा उठा और जिसकी हरियाली आज भी दर्शकों की आंखों में शीतलता का संचार कर देती है।

# क्लासिकल युग

क्लासिक शब्द का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय, गंभीरतम अर्थात् वैसी वस्तु जिसकी समता संसार की कोई वस्तु न कर सके। क्लैसिकल शब्द का अर्थ हुआ सर्वश्रेष्ठ कोटि की वस्तु, अद्वितीय वस्तु, गम्भीरतम श्रेणी की वस्तु जिसकी प्रतिस्पर्धा न की जा सके। जब हम क्लैसिकल काव्य शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा मतलब एक ऐसे काव्य से होता है जो अपनी महानता, ऊंचाई और गौरव में संसार के अन्य काव्यों को पीछे छोड़ जाता हो, जिसकी छाया छूभर सकना भी अन्य काव्य के लिए कठिन हो। मनुष्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने अतीत को एक अति ही गौरव-मंडित रूप में देखने का अभ्यस्त होता है, वर्तमान में से कटुता और अभाव को निकाल कर वह अतीत की सृष्टि करता है और अतीत में अपने आदर्श को प्रतिबिम्बित कर संतोष की सांस लेता है। साहित्य में भी यही मानव प्रवृत्ति काम करती है। भारत में हम लोग अपने काव्यात्मक अनुकरणीय आदर्शों के लिए कालिदास, वाल्मीकि और तुलसीदास की ओर देखते हैं। यूरोप में लोगों की दृष्टि आदर्श और अनुकरण के लिये ग्रीक और रोमन साहित्य की उच्चकोटि की रचना की ओर लगी रही और १५ वीं १६ वीं शताब्दी की पुनर्जागृति के काल में साहित्यिकों ने रचना की कसौटी के लिये, उसके खरेपन और खोटेपन की जांच के लिये उनको ही आदर्श माना और इनके लिये वे क्लासिकल शब्द का प्रयोग करने लगे। अतः रोमन और ग्रीक श्रेष्ठ रचनाओं को क्लासिकल कहा गया। साथ ही साथ उनके आदर्शों को सामने रख कर उनके अनुकरण पर जिस साहित्य का सृजन होने लगा उसे भी क्लासिकल कहा जाने लगा। १६६० से लेकर १७४८ तक इंग्लैंड में जो साहित्य का प्रवाह प्रवाहित होता रहा उसके युग का संचालन करने वाले, होमर थे, विरोजल थे, होरेस थे और ऊपर सबसे थे अरस्तू। इनके ही पदचिन्हों पर चलना काव्य की एकमात्र इतिकर्तव्यता समझी गई। अतः इस युग के काव्य को क्लासिकल युग कहते हैं।

अरस्तू अपने समय का एक महान विचारक और दार्शनिक था। पश्चि-

मीय चिन्तन श्रोत का, विशेषतः साहित्य-शास्त्र का वह आदि आचार्य था। ऐसा मालूम पड़ता है कि अरस्तू के समय ऐसे आलोचक अवश्य थे जो किसी रचना की या तो प्रशंसा का पुल बांध देते थे अथवा निन्दा की आंधी उठा कर ही दम लेते थे। यह उनके मन के पसन्द और नापसन्दगी की बात थी। पर वैसा वे क्यों करते हैं, किसी की प्रशंसा और किसी की निन्दा करने का कारण क्या है इस बात का उत्तर नहीं दे सकते थे। अरस्तू के लिये यह वस्तु-स्थिति सह्य नहीं थी। उसने कुछ ऐसे सिद्धांतों का प्रति-पादन करना चाहा जिसके पैमाने से किसी रचना की महानता या तुच्छता की जांच हो सके। उसका मनोवैज्ञानिक दिमाग बहुत सुलझा हुआ था और उसने मन में सोचा कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। क्यों कोई रचना हमारे मर्म को स्पर्श कर हमें हिला देती है और क्यों दूसरी रचना हमारे ऊपर ही ऊपर निकल जाती है, छूती तक नहीं इसके उचित कारण अवश्य होने चाहिये। अतः उसने देश का यावन्मात्र उपलब्ध साहित्य था उसका अध्ययन किया और उसने देखने की कोशिश की कि उनमें कौनसी ऐसी पकड़ में आने वाली वस्तु है जो उन्हें आनन्द के सृजन करने की शक्ति से मंडित कर देती है। उसने उस विपुल साहित्य राशि में से कुछ आधार-भूत मौलिक सिद्धांतों के सूत्र खोज निकाले और लोगों के सामने प्रस्ताव रखा कि साहित्य के सृजन करते समय, कलाकार का तथा उसकी रचना का मूल्यांकन करते समय उसके आलोचकों को इन सिद्धांत-सूत्रों से सहायता लेनी चाहिये। अतः प्रथम बार आलोचना जगत में व्यवस्था लाने की कोशिश की गई, आलोचना को एक आधार-भूमि मिली और वह पहले की तरह बिना नकेल के ऊंट की तरह न रह गई। अरस्तू के बतलाये सिद्धान्त ही क्लासिकल साहित्य की विशेषतायें हैं जो उसे अन्य प्रकार के साहित्य से पृथक कर देती हैं। अतः आइये इन सिद्धांतों को देखा जाय।

अरस्तू के आधार-भूत सिद्धांत क्या हैं ? उसने विशाल साहित्य राशि पर दृष्टिपात किया तो सब में उसने एक बात को साधारण रूप में सब में पाया। उसने देखा कि सब कलाकृतियों में वाह्य आकार प्रकार का सौष्ठव, रूप संगठन तथा अनुरूपता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। प्रत्येक महान कलाकृति में चाहे और कुछ न भी हो पर इस रूप-विन्यास और आंगिक संगठन की ओर से उदासीनता कभी नहीं दिखाई गई है। मूर्तिकला के देखने से तो यह और भी स्पष्ट हो जाती है। ग्रीक लोग अपने देवताओं को मनुष्य रूप में देखने के अभ्यस्त थे चाहे पूजा के लिये अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये

वे मानव रूप का ही आश्रय लेते थे। अरस्तू ने सारी कला-कृतियों की महनीयता की तह में एक बात अनिवार्य रूप से पाई। वह थी अनेकत्व में एकत्व ( Unity in diversity ) कहने का अर्थ यह कि आप किसी महान् साहित्यिक ग्रंथ को अथवा मूर्ति को देखें, आपको अनेक प्रकार की विभिन्नतायें दृष्टिगोचर होंगी। कभी साहित्य का प्रवाह वेग से प्रवाहित होता दिखलाई पड़ेगा, कभी मंथर गति से। कभी रचना की रूप रेखा आपके सामने सुदृढ़ रूप से उपस्थित होती दिखलाई पड़ेगी, कभी उसकी क्षीणता आपको व्यग्र कर देगी, कहीं उच्च शिखर के दर्शन होंगे तो कहीं पाताल की गहराई देखने को मिलेगी, कहीं झंझावात तो कहीं शीतल मन्द समीर। पर इतना होने पर भी उनमें एक ऐसी चीज अवश्य होगी जो इन सारी विभिन्नताओं में एकता को बनाये रखती है। आप मानव आकृति को ही देखिये न। सब अंग प्रत्यंग तो एक से होते नहीं, कोई उभरा है, तो कोई चिपटा है, कोई समान सतह पर, जांघें मोटी हैं पर अंगुलियां पतली; सर बड़ा है आंखें छोटी पर इतना होने पर भी उनका सृजन इस तरह हुआ है और उनको इस तरह बैठाया गया है कि वे मानव आकार की सार्थकता सिद्ध करते हैं। अतः यहां अनेकत्व में एकत्व के उदाहरण का दर्शन होता है। यह मानव आकृति तक ही नहीं। आप प्रकृति में कहीं भी देखिये इसका ही साम्राज्य पायेंगे। वृक्षों में, पशुओं में, चाहे वनस्पतियों में, यही सिद्धान्त समान रूप से काम करता दिखलाई पड़ेगा।

अतः सिद्धान्त यह निकला कि विविधताओं से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। इस अनेक नामरूपात्मक जगत में हम लाख सर मार कर भी विभिन्नताओं से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। पर हां, हम अवश्य कह सकते हैं कि हम उनका संयोजन इस तरह से करें कि वे सब मिल-जुलकर पारस्परिक सहयोग प्रदान करते हुए एक ही उद्देश्य की सिद्धि में संलग्न दिखलाई पड़ें। यही उद्देश्य की एकता किसी कलाकृति में एकत्व की सृष्टि करेगी। विविध वस्तुएं एक हैं क्योंकि उद्देश्य की एकता उनमें परिव्याप्त है, उनके द्वारा एक ही उद्देश्य की सिद्धि होती है, उनमें जो कुछ भी गौरव है वह इसी कारण है कि वे एक उद्देश्य की सिद्धि करते हैं। अतः उद्देश्य की सिद्धि इन विभिन्नताओं के द्वारा होती है और इन विविधताओं की सार्थकता तथा गौरव उद्देश्य के अस्तित्व के कारण है। सादी गोलाई, वैविध्यहीन, एकाई भी सुन्दर नहीं कही जा सकती और आपस में असम्बद्ध भिन्न २ इकाइयां भी सुन्दरता की श्रेणी में नहीं आ सकतीं पर अनेकत्व तथा एकत्व में अनेकत्व में

एकत्व की योजना सुन्दरता की पहली शर्त है। सारे ग्रीक साहित्य को अरस्तू ने इस सिद्धांत की केन्द्रभूमि के चारों ओर चक्कर काटते हुए देखा और लोगों से कहने की कोशिश की कि साहित्यिक रचना के महत्व की जांच पड़ताल करनी हो तो पहले इसकी खोज करो।

पहले यह पता लगावो कि किसी रचना का कोई मुख्य उद्देश्य है या नहीं। यदि उद्देश्य की एकता का पता लग गया तो दूसरा पग यह होगा कि रचना के जो विविध भाग हैं, वे कहां तक उस उद्देश्य की सिद्धि में सार्थक होते हैं, उनमें कहां तक पारस्परिक संगठन है, वे योंही असम्बद्ध चीज तो नहीं मालूम होते। रचना को पढ़कर ऐसा संस्कार मन में जमना चाहिये कि एक-दूसरे विविध अंग प्रत्यंग मानो स्पष्टता पूर्वक, विस्तार पूर्वक उन्हीं बातों को दिखला रहे हैं जो उद्देश्य के अन्तराल में अन्तर्निहित थीं।

कविवर शेली वाले लेख में सुश्री महादेवी वर्मा की एक कविता के आधार पर बतलाया गया है कि किस तरह एक प्रधान विचार प्रस्फुटित होकर काव्य का रूप धारण कर लेता है और किस तरह वहां अनेकत्व में एकत्व का दर्शन होता है। यह बात प्रत्येक महान रचना में मिलेगी। मिल्टन की रचनाओं में एक उद्देश्य है कि धर्म-पथ से च्युत होकर मनुष्य का पतन हो जाता है। इसी एक मुख्य उद्देश्य ने तत्सम्बन्धी अनेकों विचारों की सृष्टि की जिनकी, उद्देश्य के स्पष्टीकरण के लिये, नितान्त आवश्यकता थी। मसलन पाप का मूलोद्गम, मानव की उत्पत्ति, मनुष्य में पाप का उदय और उसके परिणाम। इनके कारण, और-और विचारों और विस्तारों की सृष्टि हुई। पर ये सब गौण बातें मिल-जुलकर एक ही बात को स्पष्टतया उभार कर सामने रखती हैं कि मनुष्य का पतन क्योंकर होता है। उसी तरह तुलसीदास की रचनाओं के वैविध्य के मूल में 'राम की भक्ति' खोजी जा सकती है। मैकबेथ नाटक में भी मैकबेथ नामक राजकुमार के चरित्र में जो एक स्वार्थ-परक महत्वाकांक्षा है उसी ने उसके जीवन में आंधी और तूफान की सृष्टि की है और अन्त में उसके नाश का कारण हुआ है।

इस सिद्धांत को व्यवहार में लाया जाय और इसी के आधार पर साहित्य का सृजन किया जाय तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कलाकृति में किसी भी ऐसी वस्तु का समावेश नहीं हो सकेगा जो उद्देश्य की सिद्धि में सहायता न देती हो, जिसके योग दान से उद्देश्य की स्पष्टता न होती हो तथा जो अपना आस्तित्व पृथक बनाये रहने जैसी दिखलाई पड़ती हो। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर बाह्य रूप-सौष्टव ही कृति में मुख्य स्थान ग्रहण

कर लेता है और आलोचक रचना में रूप-सौष्ठव, रूप विन्यास ही खोजने के लिये बाध्य होता है। उसे रचना के अन्तस में पैठ कर अन्दर से देखने की प्रवृत्ति नहीं रहती। इसी विचार धारा को क्लैसिकल विचार-धारा कहते हैं।

ऊपर हम देख चुके कि अनेकत्व में एकत्व ही वह आधार-भूत सिद्धान्त वाक्य है जिसकी नींव पर क्लासिकल साहित्य की विशाल इमारत खड़ी की गई है। गणितशास्त्र या ज्यामिति शास्त्र में आपने देखा होगा कि एक या दो ही आधारभूत सिद्धांत रहते हैं पर उन्हीं को पकड़ कर उनमें से कितने ही नियम और उपनियम, प्रमेय और उपप्रमेयों की सृष्टि हो जाती है। उसी तरह क्लासिकल साहित्य की एक मुख्य बात को लेकर इसकी सार्थकता के लिये कितने ही नियमों और उपनियमों की रचना की गई। उदाहरण के लिये संकलन-त्रय वाले सिद्धांत को ही लीजिये जिसे अंग्रेजी में Three Unities कहते हैं। नाटकों में इस सिद्धान्त के प्रयोग का अर्थ यह होता है कि इनकी कथा वस्तु की अवधि अधिक लम्बी नहीं होनी चाहिये, इनकी घटनायें ऐसी नहीं होनी चाहिये कि ये भिन्न-भिन्न स्थानों पर घटित हों और इनमें वाता-वरण की एकता होनी चाहिये। ऐसा न हो कि कथावस्तु का वातावरण तो गंभीरता लिये हो पर उसमें ऐसी बातों का समावेश हो जिनके कारण वाता-वरण में हल्कापन आ जाये। मसलन विषाद के साथ हास्य की योजना। विषाद के लिये गम्भीर मानस स्थिति की आवश्यकता होती है, पर हास्य एक हल्की मानसिक स्थिति की अपेक्षा करता है। अतः दोनों की युगपत् योजना मस्तिष्क में एक विचित्र उलझन-पूर्ण परिस्थिति पैदा कर देगी और उद्देश्य की प्राप्ति न हो सकेगी।

यह स्पष्ट हो गया होगा कि एकत्व ही क्लासिकल साहित्य का प्राण है। संकलन-त्रय सिद्धांत से इस प्राण की रक्षा होती है। साथ इसका यह भी तकाजा है कि जो कुछ कहा जाय थोड़े शब्दों में कहा जाय, वाक्य ऐसे हों जिनमें भाव कस-कस कर भरे गये हों; घुमा-फिराकर कहने वाली शैली का, अनर्थक वाह्याडम्बरों का, पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति का, पूर्ण रूप से परित्याग हो। अलंकारों के व्यर्थ के भार से कविता भाराक्रांत न की जाय, अलंकार आये भी तो वैसे हों मानो वे स्वतः काव्य के अन्तस से फूट पड़े हों, बाहर से चिपकाये जैसे न मालूम पड़ते हों। कथावस्तु यथासाध्य सीधी सादी हो, उसमें जटि-लता न आने पावे।

इन सिद्धांतों की उपादेयता को कौन अस्वीकार कर सकता है। विशाल ग्रीक साहित्य की अट्टालिका ही इसका प्रमाण है। पर साथ ही साथ यह भी

सत्य है कि इन सिद्धांतों का साहित्य में सफलता पूर्वक प्रयोग करना साधारण प्रतिभा वाले लेखक के बूते की बात नहीं है। इसका सफल प्रयोग एक प्रतिभाशाली लेखक ही कर सकता है। फिर भी जहां एक ओर ये सिद्धांत उच्च कोटि के साहित्य के सफल निर्माण का निर्देश देते हैं वहां दूसरी ओर वे इसके क्षेत्र को एक दम सीमित भी कर देते हैं। विविध प्रकार की कथाओं और उपकथाओं, भावों और विचारों के समावेश से कलाकृति में जो आढ्यता आ जाती है उसका द्वार ये बन्द कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि क्लासिकल साहित्य में भावों और विचारों का दारिद्र्य, विविधता का अभाव आ जाता है। पात्रों और उनके कथोपकथन में एक रूपता और कृत्रिमता आ जाती है। पात्रों में सजीवता नहीं रह जाती, वे किसी सिद्धांत के प्रतीक मात्र रह जाते हैं और उनकी वाणी हृदय की न होकर प्लाटफार्म की हो जाती है। प्राचीन साहित्य के आदर्शों की छाया मौलिकता को चर जाती है और अनुकरण को प्रोत्साहित करती है। प्राचीन साहित्य के रचना नैपुण्य के नियमों का पालन करना अनिवार्य सा हो जाता है और उनके ही अनुसार किसी पुस्तक का मूल्यांकन किया जाता है। फ्रांस और इटली के बहुत से नाटकों को देखकर यह मालूम पड़ने लगता है कि उनमे प्रेरणा का एक दम अभाव है और वे प्राचीन नियम और सिद्धांतों को सामने रख कर गढ़ लिये गये हैं। उन्हें देख कर वैसे कागज के फूलों की याद आ जाती है जो कैंची के सहारे काट छांट कर बना लिये गये हों और जिनमें फूलों की ताज़गी और जीवित सौंदर्य के दर्शन न हो पाते हों। कविता आन्तरिक प्रेरणा से अनुप्राणित वस्तु न होकर कला-साध्य और परिश्रमसापेक्ष चीज हो गई। कहा जाता है कि Poet is born, not made पर क्लासिकल साहित्य के सिद्धांतों ने ठोक पीट कर कविता ढालने का नुस्खा बतलाया। उसने बतलाया कि Heroic काव्य लिखना हो तो अमुक-अमुक छन्दों का और अमुक शब्दों का प्रयोग करो, इसी तरह Epic काव्य के लिये, Pastoral काव्य के लिये, तथा Georgics के लिये कुछ खास-खास नुस्खे और चुटकुले बताये गये।

हिंद संस्कृत साहित्य में भी इस तरह के नुस्खे दिए गये हैं। केशवदास की कवि प्रिया इसका उदाहरण है। संस्कृत में एक ग्रन्थ है 'कवि कर्पटिका'।' इस ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है।

यत्नादिमां कण्ठगतां विधाय।
श्रुतोपदेशाद् विदितोपदेशः।
आज्ञातशब्दार्थविनिश्चयोऽपि
श्लोकं करोत्येव समासु शीघ्रम्।

अर्थात् जिस व्यक्ति ने इस पुस्तक को अच्छी तरह कण्ठस्थ कर लिया वह शब्दों के अर्थ को नहीं जानते हुए भी सभाओं में शीघ्र श्लोक की रचना कर लेगा। इस पुस्तक में विषय दिये गये हैं और साथ ही कुछ शब्दों की सूची दी गई है। यदि आपको उस विषय पर कविता लिखनी हो तो उन शब्दों का हेरफेर कर, उन्हें इधर से उधर उठा बैठा कर उनके Permutation और Combination, के द्वारा कविता कर लेने में समर्थ हो सकते हैं। हिन्दी और संस्कृत साहित्य के ऊपर क्लासिकल और रोमांटिक राह से विचार करना समीचीन न होगा क्योंकि हरेक देश की चिंतन धारा की अपनी-अपनी विशेषता होती है। पर ये सब ग्रंथ कुछ-कुछ अंग्रेजी के क्लासकिल साहित्य से मिलते जुलते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो क्लासिकल साहित्य के बाह्य आकार प्रकार में जो एक विशिष्टता दीख पड़ती है, उसमें जो बाह्य रूप विन्यास के प्रति एक दृढ़ आग्रह परिलक्षित होता है उसमें तत्कालीन विचारधारा काम कर रही है। किसी साहित्यिक-रचना में दो पक्ष होते हैं प्रेरकभाव ( substance ) और उसकी बाहरी आकृति ( form )। इसी को शायद आचार्य प्रवर स्व० रामचन्द्र जी शुक्ल ने भावपक्ष और विभावपक्ष कहा है। पर हमें भूलना नहीं चाहिए कि ये दो चीजें एक ही सिक्के के दो पहलूमात्र हैं, इनको अलग कर, परस्पर निरपेक्ष बनाकर, एक दूसरे से तोड़कर देखना ठीक न होगा। हृदय से निकले भावों में अपनी परिणति के लिये अपने अनुरूप बाह्य परिधान बना लेने की गजब की शक्ति होती है। जो स्वाभाविक प्रेरणा उन्हें उत्पन्न करती है वही उन्हें अपने अनुरुप मार्ग बना लेने की, अपनी सार्थकता के लिये अनुकूल रुप गढ़ लेने के लिए शक्ति भी प्रदान कर देती है। साहित्य के विद्यार्थियों से यह बात छिपी नहीं कि ज्यों ज्यों देश की चिंतन-धारा में परिवर्तन हुआ त्यों त्यों साहित्य के बाहरी रूपविन्यास में भी अन्तर हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखा जाय तो पता चलेगा कि वीर-गाथा काल में छप्पय की प्रधानता रही, भक्तिकाल में दोहे और चौपाइयों की, रीतिकाल में कवित्त, सवैयों और दोहों की। पर इन विशिष्ट छन्दों और भाव प्रकाशन के एक विशेष प्रकार के ढंग का प्रचलन कुछ यों ही सी चीज नहीं है। इसका रहस्य तत्कालीन विचारधारा और दृष्टिकोण में है। वास्तव में अरस्तू ने जहाँ अपनी पुस्तक Poetics और Rhetoric द्वारा आलोचना के सिद्धांत-सूत्रों का निर्माण कर साहित्य शास्त्र का महान उपकार किया वहाँ उसके द्वारा क्षति भी कम न हुई। हालांकि इस विद्रूपता के

लिये अरस्तू बहुत कुछ उत्तरदायी नहीं है।

प्रत्येक आन्दोलन में क्रियायें और प्रतिक्रियायें होती रहती हैं और इसी संघर्ष से मानवता आगे बढ़ती जाती है। इंग्लैण्ड की राजनीतिक प्रगति के इतिहास को देखें तो पता चलेगा कि प्रजातांत्रिक आन्दोलन के साथ-साथ राज्यतन्त्र वाद भी और प्रतिगामी शक्तियों के साथ गठबन्धन कर सर उठाता रहा है और कभी-कभी विजयी भी होता रहा है। छोड़िये इंग्लैण्ड के अतीत इतिहास को। आज वर्तमान भारत की ही राजनैतिक प्रगति को देखिये न। माना कि आज प्रगतिशील वामपक्षीय विचारधारा आगे बढ़ रही है, देश एक Republic की स्थापना करने का प्रयत्न कर रहा है पर प्रतिगामी शक्तियां भी सतर्क नहीं हैं क्या और वे अपनी सत्ता की स्थापना के लिये प्रयत्न नहीं कर रही हैं क्या ?

सर्वप्रथम सर फिलिप सिडनी ने रपनी पुस्तक Apology for poetry में कविता के बन्द द्वारों का उद्‌घाटन किया और कट्टरपंथियों हृदय में भी कविता के लिये आदर भाव उत्पन्न किया। आगे चलकर एलिजाबेथन युग के नाटककार काव्य के सारे बन्धनों को तोड़कर कविता के साथ मन चाहा खिलवाड़ करने लगे। उसी तरह से जिस तरह एक बिल्ली चूहे के साथ खेल करती है जब चाहे तो छोड़ देती है और फिर-उसे पकड़ कर रगड़ देती है ? इस तरह की संयमहीनता जीवन के किसी क्षेत्र के लिये लाभदायक नहीं तो वह काव्य के लिये ही किस तरह लाभदायक हो सकती है। बेनजांसन ने खतरे की घण्टी बजाई और कवियों का ध्यान उनकी उच्छृंखलता की ओर आकर्षित किया पर किसी ने ध्यान न दिया। परिणाम यह हुआ कि Borlean और Rapier सामने आये। उन्होंने प्रतिशील शक्तियों का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और उन्होंने काव्य प्रवाह को एकदम मोड़ दिया। क्लासिकल साहित्य की प्रतिष्ठा लोगों के हृदय में थी ही। क्लासिकल साहित्य शास्त्रागार से, जिसकी कुंजी अरस्तू के पास थी, ये तोप उठा लाये और उसके मुंह को प्रचलित काव्य की ओर घुमाकर धुंआधार गोलाबारी आरम्भ कर दी और तत्कालीन काव्य गढ़ को भूमिसात् कर दिया। साहित्य जगत में बढ़ती अराजकता की दुहाई देकर क्लासिकल साहित्य के आलोचना सिद्धान्तों के द्वारा उन्होंने साहित्य क्षेत्र में नियम, व्यवस्था और शान्ति( Law and order ) की स्थापना का काम लिया। काव्य की रूपरेखा और उसकी कसौटी और पैमाने को उन्होंने दुरुस्त किया।

पर एक बात निश्चित है। नूतन क्लासिकवाद और ग्रीक क्लासिकवाद में

महान अन्तर है। प्राचीन क्लासिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था अपने युग के अनुरूप अन्तस्थ प्रेरणा की मांग के उत्तर स्वरूप, उस युग की ग्रीक सभ्यता ने जिन भावनाओं की सृष्टि की थी वही तद्नुरूप साहित्य का रूप धारण कर रही थी। पर १८ वीं शताब्दी के उत्साही नव क्लासिकवाद के अनुयायीगण इस तथ्य को भूल गये। उन्होंने क्लासिक साहित्य के नियमों का, उसके टेकनीक का, उसकी रचना-पद्धति का अध्ययन किया पर वे इन बाहरी चीजों की जाँच पड़ताल में उलझ कर रह गये, वे उस साहित्य की गहराई में जाकर उसकी आत्मा को नहीं पा सके वे भूल गये कि पांचवीं शताब्दी में साहित्य का वह वृक्ष जो अपनी महिमा का विजय निर्घोष करता हुआ, अपनी उच्चता में सारे संसार को तुच्छ सा बनाता हुआ खड़ा है वह एक विशिष्ट attic मिट्टी पर उगा है, एक खास सभ्यता में, संसार के एक खास कोने में एक खास जलवायु में उत्पन्न हो सकता है। उन सारी विशिष्टताओं को १८ वीं शताब्दी में एकत्र करना असम्भव सा है। अतः परिणाम यह हुआ कि १८ वीं सताब्दी के साहित्यकों की सारी शक्ति नियम और कायदों के अध्ययन में लगी रही और वास्तविक नाटक और काव्य उनकी पहुँच से परे हो गये। नवक्लासिक वाद उन लोगों के हाथ में पड़ गया जो मौलिकता और प्रतिमा की कमी के कारण सदा अतीत की ओर देखा करते हैं और जिन्हें वर्तमान जीवन की ताजगी और उसका सौन्दर्य अपील नहीं करता। ऐसे लोग एक तरह के fifth columnist हैं जो रहते हैं एक देश में पर जिनकी वफादारी उस देश के प्रति न होकर दूसरे देश की ओर होती है। ऐसे ही आदमियों को देखकर किसी कवि ने कहा था—'घर से वैर और से नाता, ऐसी बहुजन देह विधाता।' पर भाग्य तो देखिये कि १८ वीं शताब्दी का साहित्य ऐसी ही बहुओं के हाथ में पड़ा जो १८ वीं शताब्दी में रह कर ग्रीकसाहित्य की मुखापेक्षी हो गईं। ऐसी स्थिति में परिणाम वही हुआ जिसकी आशा की जा सकती है। नूतन क्लासिक साहित्य क्लासिक न रह कर क्लासिक का विद्रूप मात्र रह गया।

ऊपर मैं भावपक्ष (Substance) और विभाव पक्ष (Form) की पारस्परिकता की चर्चा कर आया हूँ और बतला चुका हूँ कि साहित्य की बाहरी आकृति भी आन्तरिक दृष्टि कोण से ही रूप ग्रहण करती है। देवकीनन्दन खत्री और प्रेमचन्द्र जी के उपन्यास भारी भरकम हैं और जैनेन्द्र के उपन्यास छोटे-छोटे तो इनका अर्थ तो यह है कि उन लोगों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर है, एक जीवन पर दूसरी राह से विचार करता है, तो दूसरा दूसरे ढंग से। अतः क्लासिकल साहित्य में रूप सौष्ठव की महत्ता

है, उसमें रूप-विधान के आनुपातिक सौष्ठव का आग्रह है, उसमें गौरव है, उच्चता है, अनुशासन की कड़ाई है, तो इसलिये है कि वह एक ऐसे दृष्टि-कोण की अभिव्यक्ति है जो अपने को उसी रूप चरितार्थ कर सकता था। रोमान्टिक साहित्य में जो एक प्रवाह है, स्वच्छन्दता है, गति है, गहराई है, अनुशासन की अवहेलना है तो वह भी इसी कारण है कि जीवन की वह फिलासफी जो अपने को अभिव्यक्ति करना चाहती है एक विशिष्ट ढंग की है जिसे इसी रूप में प्रकट होकर संतोष हो सकता था। अब हमें देखना यह है कि जीवन के प्रति कौनसा दृष्टि-कोण है जो क्लासिक और रोमान्टिक कला की तह में बीज रूप से अन्तर्निहित है।

कविता जीवन के व्यापक और साधारण सत्यों को विशिष्ट रूप देकर इस तरह से अभिव्यक्त करती है कि वे हर एक के लिये प्रेषणीय और ग्रहणीय हो जाते हैं। पर इन सत्यों को हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं और किस ढंग से उन्हें अभिव्यक्त कर प्रेषणीय बनाते हैं इसमें अन्तर हो सकता है। अतः इस अन्तर के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की कवितायें हो सकती हैं।

एक दृष्टिकोण वैज्ञानिक का हो सकता है। हम प्रकृत वस्तुओं की बाहरी रूप रेखा को ध्यान से देखते हैं, उनके अंग प्रत्यंग का बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करते रहते हैं, मनुष्य के कार्य-कलाप का अध्ययन करते हैं, हम देखते हैं कि सुख में वह हंसता है, दुःख आ पड़ने पर रोता है। इन सब बातों के निरीक्षण के पश्चात हम प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध में कुछ विचारों की धारणा बना लेते हैं। कविता के द्वारा हम इन्हीं साधारण धारणाओं की अभिव्यक्ति करते हैं पर अपनी अभिव्यक्ति को काव्योचित रूप देने के लिये उसमें अपील, सौंदर्य और प्रभविष्णुता लाने के लिये उसे नूतन परिस्थितियों में और नये ढंग से प्रकाशित करते हैं। हमारा ध्यान यह रहता है कि सर्व सुलभ और सर्वज्ञात साधारण सत्य को ही इस ढंग से प्रकाशित करें कि वे नये जान पड़े, लोगों के हृदय को चमत्कृत करें, उन्हें पढ़कर, पाठकों को एक प्रसादपूर्ण चमत्कार की अनुभूति हो, लोग इसे प्यार की दृष्टि से देखें और लाभान्वित हों।

इस ढंग से निर्वाचित सत्य तो सर्व साधारण की ज्ञात वस्तु होती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि इसमें कोई नूतन बात कही जाय। इसका महत्त्व इसमें नहीं है कि वैयक्तिक अनुभूति की दिव्यता और विशिष्टता को अभिव्यक्त कर रही है। नहीं, इसका महत्त्व और सौंदर्य इसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में है। इस तरह की कविता को जांच करते समय हमारी दृष्टि इस

बात पर जायेगी कि एक साधारण से सत्य को इसने किस ढंग और किस कौशल से सजाया है कि वह परिचित होते भी एकदम नया-सा लगता है। ( Truth known before but not so well expressed. ) उर्दू के एक शायर ने कहा है—

'बड़े गौर से मैं सुन रहा अफसानए हस्ती,
कुछ असल है, कुछ ख्वाब है, कुछ तर्जे अदा है।'

इस तरह की कविता में 'तर्जेअदा' ही मुख्य होगी और सारी चीजें गौण। कहने का अर्थ यह कि इस तरह की कविता कला-साध्य होगी, परिश्रम-सापेक्ष होगी, बड़े-बड़े महलों में मनोरंजन के लिये बनाई वाटिका की कल्पना सामने लायेगी जो पग पग पर माली की कैंची की खूबियों की याद दिलाती रहती है। इस तरह की कविता कवि के स्वेद बिन्दु में लेखनी डुबो कर लिखी जायेगी उसके हृदय के रस में नहीं। यह कविता क्लासिकल श्रेणी की कविता होगी। इस तरह की कविता यथार्थवाद की ओर उन्मुख होगी और दैनिक जीवन में आने वाली और दिखलाई पड़ने वाली चीज़ों को नये ढंग से सजाकर रखने वाली कविता होगी। इस तरह की कविता के प्रतिनिधि होंगे होरेस और पोप। और इसके मूल्यांकन की विधि बतलानेवाली पुस्तकें अरस्तू के Poetics, होरेस की Epistle on Poetry, Borlean की Poetic Art और पोप की Essay on Criticism की तरह की पुस्तकें होंगी।

पर काव्योचित सत् की प्राप्ति एक-दूसरे ही ढंग से भी हो सकती है। कवि का मस्तिष्क इतना संवेदन-शील और प्रतिक्रियाशील हो सकता है कि वास्तविकता के सम्पर्क में आते ही सत्य उसके मानस पटल पर इस तरह उग आता हो मानो उसकी दिव्य दृष्टि के नेत्र खुल गये हों और वह सत्य का साक्षात्कार कर रहा हो। ऐसा मालूम पड़ने लगे कि अरे यह मेरे ही अन्दर वर्तमान था, किसी कारण वश इस पर अंधकार का पर्दा पड़ा था उसके हट जाने के कारण उसका साक्षात्कार लाभ हो रहा हो। मृग को मानो अचानक पता चल गया हो कि कस्तूरी, जिसकी खोज में मैं तृण-लता-गुल्मों के पीछे-पीछे मारा फिरता था वह तो मेरे अन्दर ही है किसी दूसरी जगह नहीं। हमारे जानते ऊपर जिन क्लासिकल श्रेणी के कवियों की चर्चा की गई है उनके मस्तिष्क में कहीं काठिन्य होता है। प्रकृत वस्तु के प्रति उनमें प्रतिक्रिया-शीलता का इतना तत्परत्व नहीं होता कि वह हमारे मस्तिष्क की सारी तहों को खोलकर उन्हें उद्भासित कर दे, अन्दर से

ज्योति फूटती-सी दिखलाई पड़े। तह खुलती तो है पर एक आध बार ही और ज्योति की किरणें हमारे सारे व्यक्तित्व को परिव्याप्त नहीं करती। पर दूसरी तरह के संवेदन-शील कवि होते हैं, प्रकृति वस्तु की ज्वलित उनके ज़िगर को आरपार कर देती है। ऐसा कवि पुस्तकों से पढ़कर उन्हें प्राप्त नहीं करता और न अनुभूतियों द्वारा—ये स्वतः प्रसूतरूप से उनके हृदय के अन्तस से श्रोत के रूप में उमड़ पड़ते हैं और साथ ही अपनी अभिव्यक्ति के अनुरूप भाषा भी लेते आते हैं, इसके लिये कवि को परिश्रम नहीं करना पड़ता। यौवन जब उमड़ता है तो अपनी अभिव्यक्ति के लिये अंग प्रत्यंगों की काट-छांट साथ ही लिये आता है. इसके लिये वह दूसरों का मुंह नहीं जोहता। वसन्त के आगमन के साथ उसकी वसन्त श्री भी साथ ही चलती है। उसी तरह सत्य की आन्तरिक ज्योति अपनी अभिव्यक्ति की भाषा को साथ लिये आती है। गान आह से निकलता है और आंखों से निकल कर कविता चुप-चाप बह जाती है। इस मनोवृत्ति से प्रसूत कविता रोमान्टिक कविता होगी। इसमें उमड़न होगी, वेग होगा, प्राणों की आकुलता होगी, पर्वतों को गिरा देने की शक्ति होगी, स्वच्छन्दता होगी और सबसे बड़ी चीज होगी कवि की आन्तरिक प्रेरणा जो प्रत्येक महान कविता का मूल तत्व है और जिसके बिना कविता की रचना हो ही नहीं सकती। इस कविता में बोधातीत सत्य के प्रति संकेत होगा। इसमें दार्शनिकता का पुट होगा, इस नामरूपात्मक जगत की विविध लीलाओं के पीछे छिप कर बैठे हुए डोर हिलाने वाले सूत्रधार की खोज होगी, यह कविता रहस्यवाद लिये हुए होगी, प्रत्येक आश्चर्यजनक और साहसिक कार्यों के प्रति इसमें आग्रह होगा, अतीत की गौरव-गाथा के प्रति दिलचस्पी होगी। इस प्रकार की कविता के नियम और कानूनों को बतलाने वाली पुस्तकें होंगी—सर फिलिप सिडनी की An apology for Poetry, शेली की Defense of Poecy, और कालरिज की Biographia Literaria

एक बात और। इस तरह की कविता में प्रबन्ध काव्यों से अधिक गीति और मुक्तक काव्यों की प्रधानता होगी। कारण कि रोमान्टिक श्रेणी की कविता के लिये जिस तरह की प्रेरणा की आवश्यकता होती है वे क्षणिक होती हैं। पर विशाल काव्य-ग्रन्थों में भी यत्रतत्र इस तरह की प्रेरणा की चमक का रहना आवश्यक है जो सारे काव्य को अपने रस से अभिसिंचित काव्यमय बनाये रखे। संस्कृत-साहित्य शास्त्रियों के सामने भी यह प्रश्न था। साहित्य दर्पण के उद्भट विद्वान कविराज विश्वनाथ ने यह प्रश्न उठाया है कि

रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थों में तो ऐसी बहुत सी पंक्तियाँ मिल जायेगी जिनमें सरसता है ही नहीं, वे नीरस हैं। तब उनमें रसवत्ता किस तरह मानी जाय। ( देखिये साहित्य-दर्पण ) इसके उत्तर में यह कहा गया है—'ननु तर्हि प्रवन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गत नीरस पदानामिव पद्य रसेन प्रबन्ध-रसेनैव तेषा रसवत्ताङ्गीकारात्।' अर्थ यह है कि ऐसा कहना उचित नहीं कि प्रबन्ध में आये नीरस पद्यों में काव्यत्व नहीं मानना चाहिये। जिस तरह सरस पद्यों के अन्दर आये कुछ नीरस पदों को पद्यरस के कारण काव्यत्व माना जाता है उसी तरह पूरे प्रबन्ध में जो व्याप्त एक रस है उसी के चलते नीरस पद्यों की रसवत्ता अक्षुण्णय बनी रहती है।

अतः ऊपर के विवेचन से रोमान्टिक और क्लासिकल साहित्य में विभिन्नता दिखलाई पड़ती है वह बाह्य रूपविधान की उतनी नहीं जितनी वह स्पिरिट की, दृष्टिकोण की तथा प्रेरणा की है। एक के लिये पिंड ही ब्रह्माण्ड है, दूसरे के लिये ब्रह्माण्ड ही पिण्ड है; एक में सामूहिकता का आग्रह है, दूसरे में व्यैक्तिकता का जोर। बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य चाक्षुष सौंदर्य एक के लिये प्रधान वस्तु है दूसरे के लिये इन्द्रियातीत काल्पनिक सौंदर्य। एक आंखें खोलकर बाह्य संसार पर दृष्टिपात करता है तो दूसरा आंखें मूंद आन्तरिक संसार के सौंदर्य की झाँकी करता और कराता है। एक में मनुष्य की प्रतिष्ठा है, वह नरकाव्य है तो दूसरा प्रकृति के गौरव-गान में संलग्न है, वह प्रकृति काव्य है। एक कहेगा—

Man superior walks,
Amid the glad creations
( Thomson Spring )

तो दूसरा कहेगा—

To me the meanest Flower that blows Can give thoughts that do often lie too deep for tears.

( Wordsworth )

एक क्लासिकल कवि है, दूसरा रोमान्टिक। अन्तर की नींव अत्यधिक गहराई में है। यह संस्कृति का अन्तर है, जिस जलवायु और मिट्टी के उपादान को लेकर किसी राष्ट्र या प्रदेश के जीवन का निर्माण हुआ है उसका अन्तर है। क्लासिक साहित्य की उत्पत्ति भूमध्यसागर के तट पर बसे प्रदेशों में हुई थी और रोमान्टिक साहित्य के निर्माता ट्यूटन और स्कैन्डिनेवियन

जाति के लोग थे जो उत्तरी महासागरों के प्रक्षुब्ध वातावरण में पले थे। भूमध्य सागर का वातावरण शांत है, वहां के जल की तरंगों में हलचल नहीं होती, पर उत्तरी महासागरों का वातावरण बड़ा ही प्रक्षुब्ध रहता है, आंधी और तूफानों का बोलबाला रहता है। तब कोई आश्चर्य नहीं कि भूमध्यसागर के तट पर क्लासिक साहित्य की उत्पत्ति हो और उत्तरी सागर के तट पर रोमान्टिक साहित्य की, कोई आश्चर्य की बात नहीं कि एक इतिवृत्तात्मक सौंदर्य की प्रधानता की ओर ध्यान दे और दूसरा आध्यात्मिक सौंदर्य की ओर, एक सौंदर्य के This worldliness पर जोर दे और दूसरा सौंदर्य के other worldliness वाले पहलू पर, एक शुद्ध सौंदर्य से ही संतुष्ट हो जाय और दूसरा सौंदर्य में वैचित्र्य को भी मिलाकर देखें।

स्कॉटजेम्स ने अपनी पुस्तक The Making of Literatureमें क्लासिक और रोमांटिक साहित्य पर विचार करते हुए कहा है कि "The one seeks always a mean, the other an extremity. Repose satisfies the classic. Adventure attracts the Romantic. The one appeals to tradition, the other demands the novel. .On one side we may find the virtues and defects which go with the notion of fitness, propriety, measure, restraint, conservatisin, authority, calm, experience, comeliness; on the other those which are suggested by excitement, energy, restlessness, spirituality, curiosity, troublousness, progress, liberty, experiment,provocativeness."अर्थात् एक सदा मध्यम मार्गकी खोज में रहता है, दूसरा अति की; क्लासिक को शान्ति पसन्द है रोमान्टिक को साहसिकता आकर्षित करती है। एक परम्परा की ओर देखता है, दूसरे में नूतनता की चाहना होती है। एक के पक्ष में वे सब गुण और दोष आ सकते हैं जिनका सम्बन्ध चुस्ती,दुरुस्ती, औचित्य, सन्तुलन, संयम,गतानुगतिकता, अनुशासन, शान्ति, अनुभव के साथ हैं। दूसरे पक्ष में उन गुण और दोषों का समावेश है जो आवेश, शक्ति, आकुलता, आध्यात्मिकता, कौतूहल, प्रक्षुब्धता, प्रगति, स्वातन्त्र्य, प्रायोगिकता और उत्तेजकता की भावनाओं के साथ-साथ चला करते हैं।"

## रोमान्टिक कविता की सामान्य विशेपतायें—

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगया होगा कि क्लासिकल साहित्य उसे कहते हैं

जिसमें ई० पू० ५वीं शताब्दी के ग्रीक साहित्य से समानता हो। उसी तरह रोमान्टिक शब्द उस साहित्य के लिये प्रयोग किया जाता है जिसमें १२ वीं शताब्दी A. D. के रोमन भाषाओं में उत्पन्न साहित्य से समानता पाई जाय। प्रथम में समानता इस बात की है कि दोनों का ध्यान रूप विधान और बाहरी आकृति की सुडौलता की ओर रहता है, दोनों इस बात के लिये सतर्क रहते हैं कि कला-कृति का बांहरी आकार प्रकार निर्दोष हो। पर दूसरे में समानता इस बात की है कि दोनों इस नामरूपात्मक विविध-लीला-संलग्न प्रकृति के पीछे निरन्तर काम करने वाली एक अदृश्य और आध्यात्मिक अतीन्द्रिय शक्ति की सत्ता में विश्वास करते हैं जिनके कारण यह संसार रहस्य और आश्चर्य से पूर्ण रहता है और उसे किसी गणित के सिद्धांतों की खूट में चारों ओर से बांध कर नहीं समझा जा सकता। वह शक्ति जीवित है और कभी-कभी अपनी उमड़न में प्रकृति के सारे विधानों को बहा ले जाती है। यह स्पष्ट हैं दोनों क्लासिकल श्रेणी के साहित्य में जो समानता है वह आकार प्रकार की है और रोमान्टिक श्रेणी की कविताओं में बाहरी परिधान की बात को छोड़कर समानता है आन्तरिक स्पिरिट की। वे एक श्रेणी में इसलिये नहीं रखे गये हैं कि उनकी अभिव्यक्ति के ढंग में समान है, एक ही प्रकार की शब्दावली और अलंकार की प्रवृत्ति है पर इसलिये कि काव्य का उपजीव्य वही उनका स्वच्छन्द दृष्टिकोण है।

वास्तव में देखा जाय तो विशुद्ध काव्य के मूल में यही रोमान्टिक विचारधारा ही काम करती है, जब तक यह मूल अदम्य प्रेरणा अन्दर से कवि को उभारती नहीं हो तब तक बाहरी टेक के सहारे उच्च कोटि के काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। और प्रत्येक युग में यह अपनी सृजन-क्रिया में तत्पर रहती है। हां, यह भले ही हो कि नक्कारखाने में बिचारी तूती की आवाज नहीं सुनाई पड़े। ऊपर इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि किस तरह १८ वीं शताब्दी की विपरीत परिस्थितियों में भी यह विचारधारा शक्ति संचित कर रही थी और कुछ ऐतिहासिक कारणों का संकेत पाकर १६ वीं शताब्दी में जर्मनी से प्रारम्भ होकर इङ्गलैंड और फ्रांस पर रोमान्टिक आन्दोलन के रूप में छा गई। इस आन्दोलन का महत्त्व इतना ही नहीं कि इसने काव्य जगत में ही क्रान्ति उपस्थित की पर इस बात में है कि इसने हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, विचारों में, दर्शन के क्षेत्र में, संस्कृति के क्षेत्र में क्रान्ति कर आमूल परिवर्तन कर दिया। इसने हमारे जीवन के शान्त सरोवर में एक ऐसा हलचल उपस्थित कर दिया जिसकी प्रतिक्रिया आज भी

हमारे जीवन को प्रभावित कर रही है।

क्लासिक आलोचकों ने काव्य शरीर को सुसंगठित करने की विधि तो बतलाई, यह बतलाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार की शब्दावलियों और छन्दों का प्रयोग कर काव्य को भव्य बनाया जा सकता है पर वे इस पक्ष को बतलाना एकदम ही भूल गये कि वह कौन सी मानसिक अवस्था है, कौन सा मानसिक व्यापार है, जिसके द्वारा काव्य की उत्पत्ति होती है। रोमान्टिक विचारधारा के अनुसार कविता की परिभाषा यों होगी कि कविता The spontaneous overflow of powerful feelings recoll ected in tranquility है अर्थात् जब किसी प्रबल और शक्तिशाली मनोभाव को मनुष्य शान्ति के क्षणों में पुनः स्मरण करता है तो कविता उसके हृदय से उमड़ पड़ती है। यह कवि की इच्छा और श्रम पर निर्भर नहीं करती, यह तराश और खराश की चीज नहीं, यह कवि के अन्दर से उमग कर उसे अभिभूत कर लेती है और अभिव्यक्ति के लिये विवश कर देती है। जब यह उमगती है तो अपने कोच रितार्थ करके ही रहती है। ( It struggles into utterance ) व्यैक्तिक अनुभूति स्वभावतः स्वयं ही काव्य का रूप है। बर्गसां ने कहा है कि every fresh experience is a poetry। यह कवि को एक दिव्य लोक में पहुँचाकर वहाँ की सौंदर्य-मंडित दृश्यों को दिखलाती हैं जहाँ कोयल के हृदय में एक चोट, एक वेदना होती है वही उसको कूक के रुप में फूट, सारे कानन में एक वेदना की सृष्टि कर देती है। जर्मन रोमान्टिक आलोचकों का तो यहां तक कहना है कि कविता में केवल कवि की व्यैयक्तिक आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसमें केवल कवि के ही आत्म-दर्शन की झलक नहीं मिलती बल्कि कवि के माध्यम से उस युग की आत्मा ( Spirit of the age ) बोलती है, उसमें युग के समवेत कण्ठस्वर की ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसमें एक ऐसी आदर्श और मौलिक वस्तु की धड़कन और स्पंदन दीख पड़ती है जो तत्कालीन सारे विश्व का मूल उद्‌गम है, जहां से सारी प्रकृति अपना रूप ग्रहण करती है।

यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के विचारकों ने पुराने और आदिम ग्राम्य गीतों, कथाओं, नृत्य-केलियों और दन्तकथाओं के काव्यात्मक महत्त्व पर अत्यधिक जोर दिया है। होमर के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना उस समय के लोगों की जिह्वा पर सदा नृत्य करने वाले गीतों और लोरियों के संकलन से हुई है। अतः वह केवल होमर मस्तिष्क को ही नहीं झलकाता परन्तु तत्कालीन पूरी ग्रीक विचारधारा का सामूहिक रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

यही कारण है कि हरडर द्वारा संकलित और अनुवादित स्पेनिश, जर्मन और इंगलिश ग्राम्यगीतों का जो संग्रह Voices of Nations नामक पुस्तक में है उसका इस सम्प्रदाय में इतना आदर और प्रतिष्ठा है। ग्रिम और ग्रिमरक के जर्मन दन्तकथाओं का संग्रह Percy और Scott द्वारा संग्रहीत Ossianiec Poems और अंग्रेजी वीरगीतियां, Nibelings और Gudren के परम्परागत गीत और फ्रेंच Song of Rolland ग्रन्थ बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इसी सिद्धांत के आधार पर Camoeno की पुस्तक Lusiad की अधिक प्रतिष्ठा होती है क्योंकि पुर्तगाली लोगों के स्वभाव और आकांक्षाओं का इसमें बड़ा ही स्वाभाविक और सहज विवरण मिलता है यद्यपि इसमें कला का एकदम अभाव है। पर दूसरी ओर Tusso का Jerusalem Dilivered और विरजिल की Eneid का इतना महत्त्व नहीं दिया जाता हालांकि कलात्मकता इसमें कहीं अधिक है क्योंकि ये दोनों पुस्तकें एक ऐसी अवस्था का वर्णन करती हैं जो कभी कहीं रहीं।

ऊपर जो रोमान्टिक काव्य के स्पिरिट के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) इस श्रेणी की कविता में किसी तरह के बन्धन की पाबंदी असह्य है। प्रत्येक कवि अपनी मौलिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए अनुरूप पथनिर्माण के लिए स्वतन्त्र होगा। कविवर प्रसाद के शब्दों में कवि अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलेगा। (२) ऐसी कविता में वैसे ही पात्रों का वर्णन विशेषरूप से होगा जिनका जीवन शहर की भीड़-भब्भड़ से दूर प्रकृति के अंचल में प्राकृतिकरूप में व्यतीत होता हो। ऐसे मनुष्यों के विचार, रहन-सहन के ढंग प्रकृति से ही अनुप्राणित होते हैं। फैशन और सभ्यता तो मनुष्य के जीवन में कृत्रिमता ला देती है। प्रकृति को महत्त्व देने वाले काव्य में उनकी पूछ ही कैसे हो सकती है? (३) शैली की सादगी होगी, दैनिक व्यवहार में प्रयोग होने वाली शब्दावली के प्रति आग्रह होगा, भाषा निरलंकृत होगी। क्लासिक युग की Poetic diction की तड़क-भड़क का अभाव होगा। क्योंकि ऐसे श्रेणी के कवियों का सिद्धांत यह है कि स्वाभाविक स्थिति में हृदय से निकली भाषा में जो सजीवता और अपील होगी वह कृत्रिम भाषा में नहीं हो सकती।

(४) इस श्रेणी की कविता में प्रकृति के वर्णन का स्थान होगा और वर्णनात्मक कविताओं का भी समावेश होगा। पर कवि की दृष्टि एक तमाशबीन की दृष्टि न होगी, वह प्रकृति पर अलग खड़े व्यक्ति की तरह निरपेक्ष

रूप से दृष्टि पात नहीं करेगा, वह प्रकृत वस्तु के बाहरी अंग प्रत्यंग के वर्णन से ही संतोष नहीं कर लेगा। उसके वर्णन में आत्मीयता होगी, वह प्रकृति के अन्तर्जगत में प्रवेश कर वहां के रहस्यों की ओर संकेत करेगा उसका वर्णन केवल वर्णन के लिए न होकर किसी दिव्यता की ओर संकेत करता रहेगा। उसके वर्णन में अभिधयात्मकता न होकर व्यंजनात्मकता होगी। वर्णन किसी भाव और विचार का प्रतीक होगा। उसका वर्णन ऐसा न होगा कि पाठक पढ़कर एक संतोष की सांस ले सके और उसके मन मे यह भावना जगे कि बस मैंने सब कुछ जान लिया। नहीं यह कविता तो संकेत भर देगी, आप को थोड़ा सा Provoke कर देगी और आपको अपनी कल्पना के विशाल क्षेत्र का उद्घाटन उसे सृजन के काम मे नियोजित कर अलग हो जायेगी। प्रशान्त सरोवर में एक कंकड़ी पड़ जाने से जिस तरह तरंग-चक्र की सृष्टि हो जाती है उसी तरह इस कविता से उत्तेजित होकर पाठक अनन्त की कल्पना में व्याप्त हो जायेगा।

(४) इस तरह भावों को स्वाभाविकता और उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति पर जोर तो अवश्य रहेगा पर कला का स्थान होगा ही नहीं ऐसी बात नहीं। हां, कला केवल स्वत: प्रसूत भावों में सुचारुता लाने का साधन मात्र होगी। इस श्रेणी के विचारकों ने अपने सिद्धान्तों के बीच में भी कला का स्थान क्यों और किस रूप में स्वीकार किया, कुछ तत्कालीन आलोचकों के सिद्धान्तों पर विचार करके इसकी चर्चा की जायेगी।

यूरोप की साहित्यिक चिन्ताधारा के प्रवाह में रोमांटिक साहित्य-धारा का एक विशिष्ट युग ही हो गया है। जिसमें उस युग की Time-spirit की धड़कनें बोल रही हैं। जिस तरह युवावस्था में पदार्पण करते ही बालक शैशवावस्था में दूसरों के द्वारा बताई बातों को आँख मूंदकर मानने के लिये तैयार नहीं रहता, स्वयं उसे परीक्षण करके देखता है, बन्धनों की कटुता उसे असह्य हो जाती है और वह उसे छिन्न भिन्न कर देना चाहता है, अपनी शक्ति के सहारे वह प्रत्येक वस्तु को अपने अनुकूल मोड़ देना चाहता है, ठीक इसी तरह अदम्य प्रेरणा, उत्साह और उमंग रोमांटिक युग के अन्तस्थल को अन्दर से उभार रही थी। इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि क्लासिकल सिद्धान्तों के अत्याचार से पीड़ित साहित्य का उद्धार किस तरह किया जाय। क्लासिकल सिद्धान्तों की पुकार इसलिये की गई थी कि वे हमारी उन्नति के मार्ग का उद्घाटन करें, हमारे मार्ग को प्रशस्त कर हमें आगे प्रगति की ओर अग्रसर करें पर वे पहाड़ की तरह हमारी उन्नति के

मार्ग में बाधा बनकर खड़े हो गये ।

समझ मेहमां जिसे रखा था अपने खानए दिल में,
दखल कर वो मकां आखिर वही मालिक मकां निकला ।

रोमांटिक साहित्य के प्रणेताओं ने साहित्य के प्रांगण में लगे हुए इन झाड़ झंखाड़ों को अपनी प्रतिभा की सशक्त परिमार्जनी से लेकर एक बारगी ही साफ कर दिया और साहित्य को स्वच्छन्द रूप से आगे बढ़ने के लिये अवसर दिया ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वच्छन्दतावाद की यह क्रान्ति केवल साहित्य के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी । मनुष्य के चतुर्दिक परिवर्तन हो रहा था । उसके अन्तर्जगत और बहिर्जगत दोनों में क्रान्ति की लपटें उठ रही थीं । विज्ञान दिन पर दिन उन्नति कर रहा था, नित प्रति के वैज्ञानिक आविष्कार लोगों के लिये सांसारिक सुखोपभोग की सामग्री को एकत्र कर रहे थे, उद्योगधन्धों में विज्ञान के प्रयोग के द्वारा औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश हो चुका था, लोग ग्रामों को त्यागकर नगरों में बसने के लिये जा रहे थे । नये पूंजीपति वर्ग की सृष्टि हो रही थी, जातियों में भेद भाव का लोप हो रहा था, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे नये नये विषयों के प्रति अध्ययन की दिलचस्पी लोगों में बढ़ रही थी । विज्ञान के आश्चर्यजनक आविष्कारों की अभूतपूर्व प्रगति को देखकर लोगों के मस्तिष्क में एक विचित्र आन्दोलन की लहर उठ खड़ी हुई थी जिसने उनके अन्तर्जगत में क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । मनुष्य का बहिर्जगत जितनी ही ऊंचाई की ओर जा रहा था उसका अन्तर्जगत उतनी ही गहराई प्राप्त कर रहा था । उधर तो विज्ञान था जो आधिभौतिक जगत का विजय निर्घोष कर रहा था, और इधर दर्शन-शास्त्र था जो कैण्ट की अध्यक्षता में मनुष्य की आध्यात्मिकता की सत्ता आधिभौतिकता के ऊपर स्थापित कर रहा था । इस युग के दो छोर थे आध्यात्मिक और आधिभौतिक । एक पर तो काण्ट, Fichte और Schelling अपने दर्शन की शुद्ध बुद्धि तर्क (Reason) को लेकर बैठे थे और दूसरे छोर पर वैज्ञानिक थे जो (Sense perception) ऐन्द्रियता को सर्वमर्या मान कर चल रहे थे । कलाकार इन दोनों छोरों के मध्य में बैठा दोनों से आत्मीय और वैयक्तिक सम्बन्ध-सूत्र में आबद्ध रहता है । कलाकार जितना ही प्रतिभा- शाली होगा, जितना ही प्रबुद्ध होगा उतना ही इन दोनों प्रभावों से प्रभावित होगा ।

यद्यपि वह प्रभावित होगा पर इस प्रभाव का अर्थ यह नहीं होगा कि उसकी वैयक्तिकता उससे आच्छादित हो जायेगी । उसकी वैयक्तिकता इतनी

प्रचण्ड रहेगी कि वे सब प्रभाव उसमें ही घुलमिलकर उसके ही तद्रूप हो जायेंगे। चूंकि यहां वैयक्तिक स्वतन्त्रता की मांग है यही कारण है बन्धन-मुक्ति, सारे नियम और कानूनों के प्रति विद्रोह की भावना को लेकर यह अग्रसर होता है। इस विद्रोह ने दो रूप धारण किये। एक ओर तो यह नये नये विषयों को अपना उपजीव्य बनाने लगा। इसके पूर्व लोगों के कविता के विषय का क्षेत्र सीमित था। यदि कविता करनी होती तो कुछ खास ऐसे चुने चुनाये विषय ही थे जो काव्योचित समझे जाते थे। पर अब नये युग में कवि ने नूतन विषयों को काव्य की लपेट में लाना प्रारम्भ किया, वर्डस्वर्थ ने प्रकृति की सुषमा और रहस्य के गीत गाये, ब्लेक ने मानव जीवन के अन्तर्जगत के रहस्यों का उद्घाटन प्रारम्भ किया। लोगों ने बाहरी छन्द बन्धन से मुक्ति तो प्राप्त कर ली पर वे वैसे नियमों की खोज में लगे जो कला के अन्दर से ही प्राप्त हों, वे कला के नियमों के लिये बहिर्जगत को छोड़कर अन्तर्जगत को ढूंढने लगे। वे तर्क और logic को छोड़कर एक ऐसी शक्ति का आश्रय लेने लगे जो प्रकृत प्रमेय वस्तु की वास्तविकता के हृदय तक उनका साक्षातकार करा देती हैं। उसने उनका ध्यान अन्तर्जगत के उस केन्द्र की ओर उन्मुख किया जहां मनुष्य में ईश्वरत्व की स्थापना रहती है और जहां से सारे नियम और कानून अपना रूप ग्रहण करते हैं। इसको वे reason in the most exalted mood कहते हैं। उनका कथन था कि केवल तर्क बुद्धि से सत्य की उपलब्धि नहीं होती, वह एकांगी होती है, उसका काम सूखे लक्कड़ चीरना है। ब्लेक की कविताओं को पढ़िये तो उससे साफ़ मालूम हो जाता है कि रहस्यवाद और शुद्ध तर्क में जो विरोध है उसे वह खूब समझता था। मनुष्य के पास एक ऐसी शक्ति होती है जिसे न तो ऐन्द्रिक ही कहा जा सकता है और न तर्क बुद्धि ही। वह एक ऐसी शक्ति है जो बिजली की चमक की तरह चमककर मनुष्य के सामने सत्य का साक्षात्कार करा देती है। साधारण ज्ञान के लिये मस्तिष्क को जिन जिन व्यापारों की आवश्यकता होती है उनकी आवश्यकता यहाँ नहीं होती है। मानो एक ही छलांग में हमारी चेतना सत्य के पास पहुंच जाती है। उदाहरण के लिये आप मस्तिष्क की उस प्रतिभा को लीजिये जिसे अनुमान कहते हैं और जिसके द्वारा आप पर्वत पर धूम्र को देखकर अग्नि के ज्ञान की उपलब्धि करते हैं। आपने पर्वत पर धुआं उठते देखा, देखते ही आपको वे स्थल याद आ गये जहां जहां आपने धुंआ देखा था। उसके पश्चात् आपको यह भी याद आया कि उन सब स्थानों पर अग्नि भी थी। तब आपके ध्यान में आया कि यहां भी अग्नि होनी ही चाहिये

क्योंकि वहां धुआँ मौजूद है। तब कहीं जाकर इतने चक्कर के बाद आपके मस्तिष्क को यह निश्चय हुआ कि पर्वत पर अग्नि है। इस चक्करदार पेचीले मस्तिष्क के व्यापार को देखकर स्वभावतः प्रश्न होता है कि क्या कोई ऐसी शक्ति है जिसके जागरित होते ही सत्य से साक्षात सम्बन्ध हो जाय, बीच की बाधायें मानो तिरोहित हो जाँय। रोमान्टिक साहित्य शास्त्रियों से आप पूछेंगे तो वे उत्तर देंगे कि हैं क्यों नहीं? है अवश्य। प्रत्येक को कभी कभी ऐसी शक्ति की अवस्थिति की अनुभूति होती है। प्रत्येक के जीवन में कुछ अवसर तो आते ही हैं जिनमे वह अपने को एक विचित्र ऐश्वर्य दिव्यता से परिवेष्टित पाता है मानो एक दिव्य शक्ति ने उसे छूकर एक ऐसे अतीन्द्रिय जगत में ला रखा हो जहां वह सबका स्वामी हो। कवि में और साधारण मनुष्यों में अन्तर इतना ही है कवि में ऐसे अवसर अधिक आते हैं जिनके प्रभाव क्षेत्र में उसकी लेखनी से कविता प्रसूत होती है।

रोमांटिक विचारकों ने जिस शक्ति की ऊपर चर्चा की है उसकी शहादत के बारे में यदि आप आधुनिक युग के व्यक्ति से पूछियेगा तो वह आपके सामने गांधीजी का उदाहरण पेश करेगा और कहेगा कि यदि उनके पास कोई देश की पेचीदी समस्या उपस्थित की जाती थी जिसका हल और नेता-गण लाख सर खपा कर भी नहीं पा सकते थे वहां गांधीजी अपनी सहज प्रतिभा के बल पर ही उसकी क्षीड़ की पहचान जाते थे और उसको सुलझा कर रख देते थे। गांधीजी ने जितने ऐतिहासिक और महत्व पूर्ण कदम उठाये थे उन सब में उन्होंने आन्तरिक ज्योति Inner light से ही प्रकाश पाया था और उसीके आलोक में वे पदविक्षेप भी करते थे। उनका सारा जीवन उसी आन्तरिक ज्योति के प्रकाश मण्डल में व्यतीत होता था। उन्होंने जो कुछ भी कार्य सम्पादन किया था तथा उन्होंने जो कुछ भी सफलता प्राप्त की थी उसका सारा श्रेय उसी आन्तरिक ज्योति को था जो उन्हें सत्य के आमने-सामने ला खड़ा करती थी। गांधीजी भी कवि ही थे, स्रष्टा थे। हां, उनकी कवितायें शब्दों और अक्षरों का रूप न धारण कर संस्थाओं और आन्दोलनों का रूप धारण करती थी।

इस शक्ति को विविध प्रकार नामों से पुकारा जाता है Vision, [illegible], [illegible] अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञान, सहज प्रतिभा, और कल्पना इत्यादि। और यह ईश्वरीय प्रेरणा, भावोन्माद, आनन्दोल्लास और सहज भावानुभूति को दुगाने मनुष्य के हृदय-क्षेत्र में उत्पन्न होती है और यह मानव मस्तिष्क को प्रायः सबसे हटा के हृदय के उस केन्द्र में स्थापित कर

देती है। जहां से उसका सारा रहस्य प्रगट होने लगता है। यह शक्ति संसार की वस्तु को एक मृत, निरपेक्ष और सूखे लकड़ के रूप में उपस्थित नहीं करती परन्तु उसमें प्राणों का स्पन्दन भर कर, उस पर जीवन-सुवर्ण का पानी फेर कर, उसे रस से आर्द्र कर हमारे सामने रखती है। कलाकार की वस्तु का आधार तो है प्रकृत वस्तु ही पर जादू की छड़ी चलते ही वह दिव्यता धारण कर लेती है। उसकी सत्यता में अविश्वास हम नहीं कर सकते। हमारा inner conviction उसकी सत्यता का कायल है। भले ही वह तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता हो, लॉजिक के सारे नियमों की पाबन्दी नहीं करता हो, मस्तिष्क उसको पाकर झुंझलाता ही रह जाता है। पर वह सीधे वह हमारे हृदय की तह में जाकर चुभ जाती है और हमारा हृदय उसे ग्रहण कर लेता है। हम उसकी सत्यता में विश्वास करने की इच्छा नहीं रखते हुए भी उसमें विश्वास करने के लिये विवश हैं। काव्य और कला के क्षेत्र में ही इस शक्ति को पूर्ण रूपेण चरितार्थ करने का अवसर मिलता है कारण कि कला के द्वारा सत्य से साक्षात् और सीधे सम्बन्ध स्थापित करने की योजना होती है, अनुमान प्रमाण इत्यादि तार्किक व्यापारों का व्यवधान बीच में पड़कर यहां सत्य के रूप को विकृत नहीं करता।

अतः यह कहा जा सकता है कि १६ वीं शताब्दी में यूरोपीय काव्य-धारा ने एक नया रूप धारण किया जिसे रोमांटिक के नाम से पुकारा जाता है। इसके मूल श्रोत दो थे inspiration and intiution. in spiration इसीलिये कहा कि यह विश्व को संचालित करने वाली किसी Cosmic force से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करनी थी, कवि उस शक्ति के हाथ में एक पत्र की तरह था जिसके द्वारा वह अपने उद्देश्य की सिद्धि करती थी। Intuition इसलिए कि कवि जीवन अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा जीवन की वास्तविकता के रहस्य को देखता था और उसका पुनः सृजन करता था।

# एडिसन (२१७२-१७१९)

यूरोपीय इतिहास को सुविधा के लिए तीनों युग में विभाजित किया जाता है, प्राचीन युग, मध्य कालीन युग तथा आधुनिक युग। प्राचीन युग की काव्य शास्त्रीय चिन्ता अरस्तू के दो समीक्षा ग्रन्थों में पराकाष्ठा को पहुँचती सी दिखलाई पड़ती है। अरस्तू ने जो काव्य सिद्धांत स्थापित किये थे वे इतने मननीय थे, इतने दृढ़ आधार पर स्थापित थे और वे इतने तर्क-सम्मत रूप में उपस्थित किये गये थे कि ऐसा मालूम पड़ता था कि वे साहित्य शास्त्र के अन्तिम वाक्य हैं और उन पर अब कोई किसी तरह की उन्नति नहीं कर सकता। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी तक के युग को हम मध्य कालीन युग के नाम से पुकारते हैं। इस युग में स्वतंत्र तत्व चिंतन का स्रोत मानों सूख सा गया था। धर्म के कठिन अनुशासन में काव्य, कला, और साहित्य, एक शब्द में धर्म-निरपेक्ष किसी भी आनन्द विधायक सृजन का दम घुट सा गया था। कला कृतियों की सृष्टि नहीं होती थी, यह बात नहीं पर वह धर्म की चेरी बन कर होती थी; काव्य और साहित्य की रचना होती थी पर धर्म की सेवा के लिए, मानो जो वस्तु एक संगठित धर्म की सहायिका हो कर नहीं आती वह त्याज्य है। धर्म की छत्रछाया में ही कोई चीज़ फल-फूल सकती है। यह एक दीर्घ अंधकार का युग था जिसमें मनुष्य की विशुद्ध सृजनात्मक प्रतिभा प्रसुप्त सी पड़ी थी। उसे एक दम मृत तो नहीं कह सकते क्योंकि मनुष्य की कलात्मक और सृजनात्मक प्रवृत्ति तो नैसर्गिक है यह कभी भी मनुष्य से दूर नहीं हो सकती। हाँ, सम्भव है कि बाहर के नक्कारखाने की आवाज़ में भीतरी तूती की आवाज़ की पूछ न हो। कुछ हुई भी ऐसी ही। जब तक पुनर्जागरण काल ने आकर एक ओर तो धर्म के निरंकुश शासन को दूर नहीं कर दिया और दूसरी ओर मानवीय प्रतिभा को झकझोर कर जगा नहीं दिया, मध्ययुगीन धार्मिक दर्शन की असंगतियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित नहीं कर दिया तब तक चिंतन के क्षेत्र में अंधकार की काली निशा छाई सी रही और नवीन साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकी।

पर पुनर्जागरण काल के आरम्भ होते ही, धार्मिक अंध श्रद्धा की बांध के टूटते ही सदियों से रुकी चिन्ता प्रवाह तीव्र वेग से उमड़ पड़ा और सारे युरोपीय क्षेत्र को आप्लावित कर दिया। लोगों में धार्मिक ग्रन्थों को छोड़ कर स्वतन्त्र चिंतन की प्रवृति बढ़ी, प्रकृति के प्रत्यक्ष अवलोकन के द्वारा प्राप्त अनुभूतियों में विश्वास बढ़ा, नवीन प्राणों के स्पन्दन से पुलकित कला और साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ, शेक्सपियर, मिल्टन और सिडनी जैसे कवियों और साहित्यिकों के दर्शन हुए। लोगों ने इन रचनाओं के महत्त्व को जानना चाहा, इनके सृजन को रूप देने वाले मानसिक व्यापारों का अध्ययन करना चाहा और चाहा कि इनमें जो एक विचित्र प्रभावोत्पादकता है, एक आकर्षण है हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है उसका रहस्य क्या है? हम प्रतिदिन कितनी ही सुन्दर स्त्रियों को देखते हैं, कितने ही किसानों को देखते हैं और यों ही आँख फेर कर चले जाते हैं मानों इनसे कोई मेरा नाता ही नहीं पर लूसी ग्रेडैफी डिल्स, माइकिल तो ऐसे नहीं। वे हमें एक रहस्य भरे रूप से आत्मयिता के पाश में बाँध लेते हैं और सदा हमारे के साथी बन जाते हैं इसका क्या कारण है? इसके लिए लोगों ने अरस्तू के साहित्य शास्त्र के सिद्धांतों को देखना आरम्भ किया। पर उसे पूरा सन्तोप नहीं हुआ। ऐसा मालूम होने लगा कि ग्रीक साहित्य के विपादान्त नाटकों के महत्त्व निर्धारण के लिए, उनके स्वरूप के विश्लेषण के लिए ये सिद्धान्त भले ही ठीक हों पर आज तो एक साहित्य की विशाल राशि मेरे सामने एकत्र है वरजिल, दान्ते, मिल्टन और शेक्सपियर का साहित्य उपलब्ध है क्या उनकी समीक्षा के लिए ये पर्याप्त कहे जा सकते हैं?

पहली बात तो यह है कि अरस्तू ने पूरे कविता शास्त्र को नाटक के मेल में लाकर देखने का प्रयत्न किया है और कहना चाहा है कि जिस माप दण्ड से नाटक का मूल्य निर्धारण किया जाता है उसी के सहारे सारे काव्य मात्र को जाँचना चाहिये। नाटक काव्य का अंग तो अवश्य है पर एक ऐसा अंग है। जिसमें सबसे अधिक इन्द्रिय ग्राह्य प्रमेय वस्तु की वाह्य वास्तविकता का आभास रहता है। इस नाटक के मेल में कवितामात्र को लाकर देखने का अर्थ यह होता है कि कवितामात्र में भी इसी इन्द्रिय ग्राह्य प्रमेय वस्तु की वाह्य वास्तविकता खोजी जाय। दूसरे शब्दों में जिस तरह चित्रकला में अथवा वास्तुकला में और इसी तरह नाटकों में एकरूपता अथवा सांगठनिक पूर्णता की बात देखी जाती है उसे ही कविता में खोजना चाहिये। परन्तु एक लिरिक (Lyric) में इस तरह के अंग सौष्ठव के प्रदर्शन का कहाँ अवसर है?

तब उसे कविता न कहा जाय ? दूसरी बात यह है कि अरस्तू ने काव्य के लिए यह आवश्यक बतलाया है कि उसमें भय और करुणा के भावों को जागरित करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। माना कि विषादान्त नाटकों में शोक तथा भय नामक भावों की प्रबलता होनी चाहिये पर ऐसी भी कवितायें हो सकती हैं जिनमें इनका स्थान न हो और जो केवल हमारी आनन्द वृत्ति और उल्लासमयी भावनाओं को स्पर्श करती हो। कविता मात्र को भय और शोक के भावों की सीमा के अन्दर बाँध देना क्या उसके क्षेत्र को अनावश्यक रूप में सीमित करना नहीं होगा ?

अरस्तू ने जो काव्य शास्त्र के सिद्धान्त बतलाये थे उनके द्वारा हम काव्य की बाह्य रूपरेखा में ही इतने उलझ कर रह जाते थे कि उसके अन्तस को देखने का उत्साह नहीं रह जाता था। साथ ही उनमें यह भी दोष था कि सर्व प्रकार की आनन्द विधायनी कविता के बारे में वे एक दम मौन थे। अतः एक ऐसे काव्य सिद्धान्त की आवश्यकता थी जिसकी व्यापकता की सीमा के अन्दर केवल काव्य ही नहीं परन्तु साहित्य के विविध प्रकार यहाँ तक कि प्रत्येक कला कृति भी आ सके। इस तरह के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का प्रयत्न सबसे पहले किया एडिसन ने। अतः आधुनिक युग के सर्व प्रथम साहित्य-शास्त्रियों में एडिसन का नाम लिया जा सकता है।

ये साधारण सी पानी की बूंदें (जीवन की साधारण बातें) काव्य में आकर 'तलवार' किस तरह हो जाती है इस चिन्ता के लिए बेकन ने दार्शनिक आधार उपस्थित किया जिसे आगे चलकर एडिसन ने और अधिक स्पष्ट किया।

"कविता एक कल्पित इतिहास का ही दूसरा नाम है जो गद्य या पद्य किसी रूप में लिखी जा सकती है। इस कल्पित इतिहास की उपयोगिता इस बात में है कि इसके द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क की उन वृत्तियों को तृप्ति मिलती है जिसे प्रदान करने की क्षमता प्रकृत वस्तु में नहीं है। वाह्य संसार आत्मा से कहीं अधिक क्षुद्र तथा अल्प है; उसमें मानव आत्मा के अनुरूप महनीयता या भव्यता नहीं। यही कारण है कि मनुष्य की आत्मा से मेल खाने वाली एक उच्चतर महनीयता, उच्चतर औचित्य और विविधता का अस्तित्व अवश्य है जो प्रकृत वस्तुओं मे नहीं पाई जाती। चूंकि इतिहास की घटनाओं और क्रियाओं में वह गुरुत्व नहीं कि मानव मस्तिष्क को अभितृप्त कर सके अत: कविता अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवयुक्त घटनाओं और क्रियाओं की कल्पना करती है। चूंकि इतिहास में ऐसी घटनाओं और सफलताओं की चर्चा रहती है जो सत् और असत् की भावनाओं के अनकूल नहीं होती; अतः कविता आगे बढ़कर कल्पना के सहारे उन्हें ऐसे रूप में उपस्थित करती है जिनमें सत् और असत् का उचित प्रतिदान हो और जो ईश्वरीय विधान के अधिक अनुरूप हो।"

ये बेकन के कविता सम्बन्धी उद्‌गार हैं। ये वेही विचार हैं जो १६ वीं शताब्दी में इतने माननीय हुए। यह वही विचार धारा है जो यह बतलाती है कि कविता की उत्पत्ति हुई है मानवता की एक विशिष्ट आवश्यकता की माँग की पूर्ति के लिए। मनुष्य में एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति भी होती है, कविता उस आध्यात्मिक प्रवृत्ति को सहलाने के लिए हैं। इसी तरह से कविता पर विचार करना चाहिये। कविता के लिए इसी आन्तरिक आध्यात्मिकता के मेल में रहने वाले माप दण्ड की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में कविता के ऊपर विचार करते समय हमें यह नहीं देखना चाहिए कि इसका बाह्य रूप कैसा है जैसा कि अरस्तू कहा करते थे परन्तु हमें अन्दर से देखना चाहिये, देखना चाहिये कि यह कौन-सा विचार है जो कविता के द्वारा अभिव्यक्ति पा रहा है। हम कविता को बाहर से देखने के बजाय अन्दर से देखने का उपक्रम करें।

यों तो एडिसन के साहित्य शास्त्रीय विचार उसके लेखों में यत्र-तत्र

बिखरे चमकते दिखलाई पड़ते हैं पर तीन चार स्थलों पर वे घनीभूत रूप में दिखलाई पड़ते हैं। प्रथमतः तो उसके मिल्टन के Paradise lost की आलोचना सम्बन्धी लेख में। एडिसन ने Paradise lost की विस्तृत विवेचना अरस्तू के सिद्धांतों के आधार पर की है। यह आलोचना १८ लेखों में समाप्त हुई है। चार लेख ऐसे हैं जिनमें काव्य की कथा, चरित्र, भावनायें और भाषा की विशेषताओं पर विचार किया गया है। दो लेखों में उनकी त्रुटियाँ दिखलाई गई हैं और शेष बारह लेखों में पुस्तक के बारह सर्गों की पृथक-पृथक आलोचना की गई है। उनके विशिष्ट सौंदर्य का उल्लेख किया गया है। इन लेखों का महत्व यह है कि यद्यपि इनमें आलोचना के लिए अरस्तू के माप दण्ड से ही काम लिया गया है तथापि जहां वह माप दण्ड असफल सा दिखलाई पड़ता है वहाँ उस मापदण्ड में थोड़ा सा लचीलापन लाने का प्रयत्न किया गया है और स्पष्ट बतलाया गया है कि कहाँ इस माप-दण्ड से काम नहीं चल सकता। इस सम्बन्ध में एडिसन की स्थिति वही है जो भारतीय शास्त्र के भाष्यकारों या टीकाकारों की रही है। इन भाष्यकारों ने अपने को टीकाकार ही कहा है और जहाँ तक हो सका है मूल ग्रन्थों का अनुगमन करना ही श्रेयकर समझा है। पर जहाँ उनमें किसी तरह की त्रुटि दिखलाई पड़ी है वहाँ ये लोग उसका स्पष्ट निर्देश करने से चूके नहीं हैं। इसी तरह सिद्धान्त भारतीय दर्शन का क्रमिक विकास होता गया है।

दूसरे स्थल पर जहाँ एडिसन के साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी विचार मिलते हैं वे उसके Wit ( बुद्धि ) Humour ( कल्पना ) सम्बन्धी लेख हैं।

सर्वसाधारण में प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हो गई हो और दूसरी बात यह है कि उसकी आलोचना नगण्य दोषों और भूलों की ओर चक्कर काटती रहती है। अच्छे समालोचक का काम यही है कि वह त्रुटियों से अधिक उसके उत्कर्षों पर जोर दे। रचना के आन्तरिक सौंदर्य का उद्‌घाटन करे और संसार की आँखों के सामने ऐसी बातों को उपस्थित करे जो सचमुच दर्शनीय हों। प्रायः ऐसा होता है कि लेखक की रचना के अत्यन्त मनोरम और मार्मिक स्थल ही अविद्वान और कुरुचिपूर्ण आलोचक के लिये सन्देहात्मक और आपत्तिजनक मालूम पड़ते हैं और इन्हीं स्थलों के विरुद्ध वह हिंसात्मक रूप से आक्रमण करता है।

## एडिसन के पैरेडाइज़ लास्ट सम्बन्धी विचार—

ऊपर बतालाया गया है कि एडिसन ने पैरेडाइज़ लास्ट पर अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों के आधार पर विस्तृत समीक्षा की है पर उसने एक अंधभक्त की नाईं अरस्तू का अनुकरण नहीं किया है। जहां अरस्तू के नियम काम करते से नहीं दिखलाई पड़ते वहां उसकी कमजोरी का वह स्पष्टतया उल्लेख करता गया है। एडिसन के कल्पना सम्बन्धी विचार को देखने के पहले उसके Paradise lost सम्बन्धी विचारों को ही देखें।

एडिसन के पैरेडाइज़ लास्ट की विस्तृत समीक्षा का सार तत्व यही है कि मिल्टन की कथावस्तु, चरित्रचित्रण, भावचित्र और भाषा सब के सब अरस्तू की कसौटी पर ठीक उतरते हैं पर इसमें कुछ त्रुटियां भी दिखलाई पड़ती है। यद्यपि उनमें भी मिल्टन की प्रतिभा इस तरह झांकती रहती है और उन्हें दीप्त किये रहती है कि उनको त्रुटि कहने को जी नहीं चाहता, यह कहने की इच्छा नहीं होती कि ये स्थल वहां से हटा लिये जायें।

प्रथमतः, कथावस्तु को ही लीजिये। पहली बात यह है कि पैरेडाइज़ लास्ट विषादान्त महाकाव्य है। ट्रैजडी के लिये नायक का पतन भले ही उचित समझा जाय पर वह एक महाकाव्य के लिये अनुपयुक्त है। उसका कहना है, "श्रेष्ठ आलोचकों की राय के अनुसार महाकाव्य की रचना प्रसादान्त होनी चाहिये। वह ऐसी होनी चाहिये कि संशय, भय, शोक और अशान्ति की भूल भुलैया से अपना मार्ग तय करता हुआ नायक अन्त में शान्ति और सन्तोष की सांस ले सके। यद्यपि मिल्टन की कथावस्तु में बहुत सी अच्छाइयां हैं पर इस अंश में त्रुटि है ही।" परन्तु यहां भी मिल्टन की कला इसके दोषों को अनेक अंशों में ढक लेती है। यद्यपि शैतान की विजय होती है पर वह अपने विजय की तहों में भी एक भयानक अव-

माद और ग्लानि की भावना से आक्रान्त दिखलाया गया है। दूसरी ओर आदम और हौआ भले ही नियति के सामने पिसते से दीखते हों पर उनका हृदय भविष्य की सुन्दर कल्पना से आनन्दोल्लसित दीख पड़ता है। "Satan is represented as miserable in the height of his triumphs and Adam triumphant in the height of misery."

कथा निर्माण में दूसरा दोष यह है कि मिलटन ने अपनी कथा के ताने बाने में ऐसी ऐसी घटनाओं का समावेश किया है कि जो अपने स्थान में फिट नहीं बैठतीं, पाठकों की कल्पना पर अत्यधिक जोर देती हैं और जिनकी सम्भाव्यता भी नहीं है। प्रधानतः पाप और मृत्यु के क्रिया कलाप, अहम्मन्यता की खाड़ी की कहानी और द्वितीय सर्ग के अनेक ऐसे स्थल हैं जो विश्वासोत्पादक नहीं।

तीसरा दोष यह है कि कथा भाग में बहुत सी ऐसी कड़ियां हैं जो विशृंखलित सी मालूम पड़ती हैं और यों ही अलग सी झूलती दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरण के लिये अपनी दृष्टि हीनता के प्रति मिलटन के शोकोद्गार, विवाह की प्रशस्तियां, आदम और हौआ की नग्नता पर विचार और देवदूतों की भोजन विधि का विस्तृत वर्णन। महाकाव्य में असंगत प्रसंगों का समावेश करना अपनी कलाहीनता का परिचय देना है। साधारण वर्णन में कवियों को स्वयं कुछ नहीं कहना चाहिये और अपने विचारोद्गारों के प्रकटीकरण के अवसर पर भी यह ध्यान रखना चाहिये कि मुख्य कथा प्रवाह लुप्त होता सा नहीं जान पड़े। परन्तु यहां पर भी यह कहे बिना एडिसन से रहा नहीं जाता कि इन असंगतियों में इतनी सुन्दरता है कि "मैं कभी भी नहीं चाहूंगा कि वे काव्य से हटा दी जावें।"

वार्य नहीं। साथ ही किसी भी घटना को समावेश करते समय यह देखना अत्यावश्यक है कि सम्भवता का कहीं ह्रास न हो। यदि सम्भवता की हानि होगी तो रचना में कभी भी वह अपील और प्रभविष्णुता नहीं आ सकती जो काव्य की मुख्य विशिष्टता है। हाँ, यदि किसी न किसी कारण से ऐसे छायात्मक पात्रों को लाना ही है तो उन्हें एक साधारण मानव पात्र की तरह कथा भाग में हाथ बटाते हुए नहीं दिखलाना चाहिये। उनकी सूचना मात्र दे देनी चाहिये उनकी झलक मात्र होनी चाहिये। जिसके द्वारा पाठकों के हृदय में आनन्द का संचार हो जाय, बस। होमर और वरजिल जैसे महाकवियों की रचनाओं में ऐसे काल्पनिक छायात्मक पात्र अवश्य पाये जाते हैं परन्तु वे किसी घटनाक्रम के विकास में सहयोग देते हुए से नहीं दिखलाये गये है। हाँ, होमर ने निद्रा को एक मानवी के रूप में चित्रित किया है और अपने इलियड नामक काव्य में वह कथा भाग में भाग लेती सी दिखलाई गई है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यद्यपि आज के युग में हमारे लिए निद्रा को मानवी रूप में ग्रहण करना कठिन हो पर बर्बर जाति के लोगों के हृदय में निद्रा के मानवी रूप के प्रति बड़ी आस्था थी और वे निद्रा की प्रतिमा बनाकर रखते थे। पर अन्य स्थानों पर जहाँ कहीं होमर ने ऐसे पात्रों की अवतारणा की है वे वास्तविक पात्र न होकर एक चमत्कारिक उक्ति के रूप में हैं जिसे पढ़ कर हृदय में तत्कालिक आनन्द की सृष्टि हो जाती है। कहना तो यह है कि भय का संचार होते ही मनुष्य भाग खड़ा होता है पर इस रूप में न कह कर इस ढङ्ग से कहा गया है कि भय और पालायन दो मित्र हैं जिनमें नित्य सम्बन्ध है, वे सदा साथ २ रहा करते हैं। यही उचित समय है कि अपोलो को अपने कर्मों का सुफल मिले, इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए कहा जा सकता है—"समय ने अपने हाथों से उसे पुरस्कार दिया।" मिल्टन में भी इस तरह की संयत और काव्योचित उक्तियाँ पाई जाती हैं। मसीहा की विजय घोषणा करते समय जब मिल्टन कहता है कि विजय मसीहा की दाहिनी भुजा पर आकर बैठ गई तो उसकी यह उक्ति पूर्ण रूप से काव्योचित हुई है। पर But when such persons are introduced as principal actors and engaged in a series of adventure, they take too much upon them, and are by no means proper for an Heroic poem which ought to apbear credible in its principal barts अर्थात् जब ऐसे व्यक्तियों का (आगे बढ़ कर) मुख्य पात्रों के रूप में वर्णन होने लगता है और उन्हें तरह २ के वीरोचित कार्यों

में संलग्न दिखलाया जाने लगता है तो मानो उन पर उनकी वहन शक्ति से अधिक भार लाद दिया जाता है। यह किसी महाकाव्य के हक में भी अच्छा नहीं क्योंकि उसे उसके मुख्य अंशों में विश्वासोत्पादक तो होना ही चाहिए।

इसी तरह भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में एडिसन का कहना है कि काव्योचित अन्य जितने गुण हो सकते हैं उनमें मिल्टन के प्रतिद्वन्द्वी मिल सकते हैं पर जहाँ भावों की भव्यता और उच्चता का प्रश्न आता है वह अद्वितीय है। जितने भी प्राचीन और अर्वाचीन कवि हैं उनको देख जाइये केवल होमर को छोड़कर कोई भी ऐसा कवि नहीं मिल सकेगा जिसको मिल्टन पीछे न छोड़ जाता हो। पर यहाँ भी जो त्रुटियाँ हैं उनकी ओर एडिसन ने संकेत कर दिया है। कहीं भावाभिव्यक्ति में आवश्यकता से अधिक तीव्रता आ गई है, उनमें कहीं २ शाब्दिक चमत्कार दिखलाने का मोह आ गया है, बर्बर जातियों की दन्त कथाओं का पद पद पर आना खटकने लगता है, कहीं २ पाण्डित्य प्रदर्शन की रुचि अपनी सीमा को अतिक्रमण कर गई है और दर्शन, इतिहास भूगोल, नक्षत्र शास्त्रों की बातों ने आकर काव्य को दुरुह बना दिया है।

एडिसन ने पैरेडाइज़ लास्ट की बड़ी प्रशंसा की है। उसने कहा है कि महाकाव्य की भाषा में दो गुणों के युगपत् समावेश की आवश्यकता है, प्रासादिकता और भव्यता। यदि स्पष्टता और प्रासादिकता पर ही कवि का ध्यान रहा तो भाषा गवाँरु हो जायगी साधारण बोलचाल के घिसे घिसाये शब्दों को छोड़ कर शब्दों के प्रयोग में विचित्रता होनी चाहिये। इसी को शायद संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ "वैदग्ध्य भंगी भणिति" कहेंगे। एडिसन ने अरस्तू के सिद्धांतों का अनुकरण करते हुए उन उपायों को बतलाया है जिनके द्वारा भाषा में साहित्यिक वैचित्र्य लाया जा सकता है। सबका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं। केवल एक का ही उल्लेख करना उचित होगा क्योंकि यूरोपीय साहित्य शास्त्रियों और भारतीय साहित्य मीमांसकों में यहाँ एक विचित्र समता है।

हिन्दी में शैली पर विचार करते समय दो शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—समास शैली और व्यास शैली। जहाँ बहुत पदों की आवश्यकता हो उसे संक्षिप्त कर एक ही शब्द द्वारा कहना इसे समास शैली कहते हैं। और ठीक इसके विपरीत जहाँ एक पद में कहे जा सकने वाले तथ्य को बहुत से शब्दों के द्वारा कहा जाय इसको व्यास शैली कहा जाता है। इसको संस्कृत आचार्यों ने प्रौढ़ि के नाम से पुकारा है।

पदार्थे वाक्य रचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढ़ि व्यास समासो च सभिप्राय त्वमस्य च ॥

अर्थात् जो भाव एक ही पद से प्रगट किया जा सकता हो उसको कई पदों के द्वारा बढ़ा कर कहना, बहुत से पदों द्वारा प्रगट हो सकने वाले भाव को संक्षिप्त रूप से एक ही पद में कहना, विस्तार और संक्षेप रीति से कथन तथा अभिप्राय गर्भित विशेषण विशिष्ट शब्दों वाली रचना को पूर्वाचार्य लोग प्रौढ़ि कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी कवि को ऐसी नायिका का वर्णन करना है जिसकी तासीर शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीतल है। इसके लिए उसे कहना पड़ेगा 'निदाघ शीतल शीतकालोष्ण सकुमारा वयवायोषित्' पर इसके लिए वह संक्षेप में वरवर्णिनी कहकर संतोष करेगा। अथवा उसे कहना है चन्द्रमा पर वह कहेगा—अत्रेः नयन ज्योतिः। पहला समास शैली का उदाहरण होगा और दूसरा व्यास शैली का। एडिसन ने मिल्टन की भाषा में इस प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। और इसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। हाँ इतना अवश्य है कि संस्कृत के आचार्यों के द्वारा जितनी स्पष्टता से और विस्तार से इस बात की ओर संकेत किया गया है उस विशदता के साथ एडिसन में स्पष्टोक्ति नहीं मिलती। पर दोनों का कण्ठस्वर एक ही है इसमें सन्देह नहीं एडीसन के शब्दों में—

I mean the lengthening of a phrase by the addition of words which may either be inserted or omitted as also by extending or contracting particular words by the insertion or omission of certain syllables. एडिसन ने पैरेडाइज़ लास्ट की जो विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है उसके विशाल क्षेत्र में भाषा, भाव, कथासौष्ठव तथा कला सम्बन्धी अनेक उपादेय विचारों का समावेश है जिनके द्वारा साहित्य के मर्म को पहचानने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इन सब बातों की चर्चा यहां सम्भव नहीं पर एक बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर इस प्रसंग को समाप्त करूँगा।

आजकल आलोचना के क्षेत्र में लेखक की तटस्थता तथा निस्संगता को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। जिस तरह विधाता ही सारी सृष्टि का स्रष्टा है वही सारे विश्व की रचना करता है पर वह दीखता तो कहीं नहीं। दीखती है तो केवल उसकी रचना ही, विधाता तो "मनसाप्यगम्यः" रहता है। ठीक उसी खिलाड़ी सूत्रधार की तरह लेखक को कभी भी पाठकों के सामने

ताल ठोक कर नहीं आ जाना चाहिए। उसे रचना की पंक्ति-पंक्ति में, अक्षर-अक्षर में रम जाना चाहिये। आलोचकों ने प्रसिद्ध औपन्यासिक फील्डिंग की इस प्रवृत्ति की बड़ी भर्त्सना की है कि वह जान-बूझ कर अपने व्यक्तित्व को अपने पाठकों के सामने लाता रहता है और उपन्यास की गुत्थियों को सुलझाने में लग जाता है। एडिसन इस सिद्धांत के महत्त्व को पहचानता है और उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि काव्य के रचयिता को स्वयं कुछ कहना नहीं चाहिए। वह अपने मुख से जहाँ तक हो सके कम कहे। कथा के विकास, चरित्रचित्रण तथा भावों की अभिव्यक्ति मुख्य २ पात्रों की वाणी के द्वारा होनी चाहिए। यही अरस्तू का भी सिद्धांत है। पर ऐसा क्यों होना चाहिए, इसके लिए अरस्तू ने कोई सफाई नहीं दी। पर एडिसन ने इसका कारण बतला कर इसको समझाने का प्रयत्न किया है। उसने कहा है कि इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के आश्रय लेने से पाठक और कवि दोनों पक्षों को लाभ होता है। पाठक जब देखता है कि होमर और वरजिल जैसे मानव की वाणी न सुनकर वह देवोपम Eneas अथवा Achiless के सम्पर्क में आ रहा है तो उसकी मानसिक दशा स्वभावतः कुछ ऊँचे स्तर पर आ जाती है। यह तो हुई पाठक की मानस स्थिति। दूसरी ओर कवि जब देखता है कि जब उसे Eneas और Achiless जैसे असाधारण और दिव्यता सम्पन्न व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करना है तो उसकी कल्पना और विचार अपने कार्य के सम्पादन के लिए स्वाभाविक रूप से अधिक जाग्रत और सम्पन्नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ शैली के सम्बन्ध में भी एडिसन का कथन उल्लेखनीय है। माना कि शैली की सरलता और स्वभाविकता सराहनीय है पर क्या रचना नैपुण्य अथवा भाषा के सौन्दर्य विधान का कोई भी महत्त्व नहीं? यदि साहित्यिक रचनाओं को आँख उठा कर देखते हैं तो पाते हैं कि किसी देश के साहित्य में ऐसी रचनाओं का अभाव नहीं जिनमें भाषा के सौन्दर्य के सिवा कुछ भी नहीं है पर इसीलिए वे निरादृत नहीं हुई हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी को लें। उस बृहदकाव्य ग्रन्थ की कथा तो एक दम नगण्य है, नहीं सी है पर इतने पर भी उसके अभिव्यंजना कौशल पर आज का साहित्यिक मुग्ध है। इसी सूत्र को पकड़ कर आज बड़े २ अभिव्यञ्जना वादी सिद्धान्तों की रचना की गई है जिस के प्रमुख आचार्य क्रोसे हैं। एडिसन इतनी सूक्ष्मता में तो नहीं जाते पर इस सिद्धान्त का आभास उन्हें अवश्य मिला था। उन्होंने भाषा कौशल को महत्त्व दिया है और पैराडाइज़ लास्ट में उदाहरण दे देकर इस सिद्धान्त की

पुष्टि की है कि शैली की तड़क भड़क कोई बुरी बात नहीं पर उसका प्रदर्शन और आलंकारिकता का प्रदर्शन काव्य के उन ही अंशों में हो जो Weak and unactive हों अर्थात् जो शिथिल और निष्क्रिय हों।

The diction should be eloberated in the idle parts of the poem which do not reveal either character or sentiment, for an over brilliant diction obscures instead of heightening the effect produced by both character and sentiment.

इसका अर्थ यह है कि शैली का आलंकारिक प्रयोग उन्हीं शिथिल स्थलों में करना श्रेयस्कर है जहां चरित्र-चित्रण अथवा भावाभिव्यंजना का लक्ष्य न हो। अति पालिश की गई शैली चरित्र और भावों से उत्पन्न प्रभाव को प्रकाशित करने के बदले उसे आच्छादित कर देती है।

**काव्योचित न्याय Poetic justice और कुछ अन्य बातें :**

अरस्तू ने अपनी पुस्तक Poetics में यूनानी ट्रेजेडी पर ही विस्तार पूर्वक विचार किया है और उसने अनेक तर्कों द्वारा इस मत की स्थापना की है कि ट्रेजेडी में सबसे प्रधान और केन्द्रीय वस्तु Plot है और चरित्र-चित्रण का स्थान इसके बाद है। यह बात याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि अरस्तू ने ट्रैजडी विषयक जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वह इस ढंग से है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि ये ही सिद्धान्त काव्य मात्र के लिए लागू होने चाहिये जिसमें नायक का अन्त बड़ा ही निर्मम और दारुण रूप में प्रदर्शित किया गया हो। पर ऊपर जो बेकन के वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनमें बतलाया गया है कि काव्य घटनाओं के पाप और पुण्य को समुचित और व्यवस्थित प्रतिदान के रूप में उपस्थित करता है। जहां वास्तविक जीवन में घटनाएं बिना नकेल के ऊंट की तरह जिधर चाहें उधर ही मुड़ती रहती हैं वहाँ काव्य में औचित्य की नकेल उन्हें मर्यादा के अन्दर नियन्त्रित रखती है। इसी को काव्योचित न्याय के नाम से पुकारा जाता है। एडिसन ने स्पष्ट रूप से तो नहीं पर प्रकारान्तर से, जैसा कि आगे उसके कल्पना सम्बन्धी विचारों को पढ़ने से ज्ञात होगा इसका समर्थन किया है। एक स्थल पर एडिसन ने अरस्तू पर इस सम्बन्ध में विचार किया है और उसका निष्कर्ष यह है कि जहाँ तक ट्रेजडी का सवाल है अरस्तू की मान्यतायें अकाट्य हैं पर अन्य काव्यों मे वे लागू नहीं हो सकतीं। इसी प्रसंग में विचार करते हुए काव्योचित न्याय की भी मीमांसा की गई है। एडिसन कहते हैं कि आधुनिक

ट्रेजडी के आंग्ल लेखकों की धारणा सी बन गई है कि एक निरीह निर्दोष और पुण्यात्मा का चित्रण करते समय उसे विपत्तियों से पार लगाये बिना अथवा अपने शत्रुओं पर विजय दिखलाये बिना नहीं रखना चाहिये। आधुनिक आलोचक के एक प्रवाद वाक्य के कारण ही वे इस भ्रम में पड़ गये हैं जिसके अनुसार पुरस्कार और दण्ड की सम्यक् व्यवस्था दिखलाना निष्पक्ष काव्योचित न्याय करना लेखकों का कर्त्तव्य माना जाता है। कौन इस सिद्धान्त का जन्मदाता है, मुझे नहीं मालूम; पर इतना तो निश्चत है कि इस सिद्धान्त का समर्थन न तो प्रकृति में दिखलाई पड़ता है न यह तर्कसम्मत ही है और न प्राचीन कवियों की प्रथा से हो इसका अनुमोदन होता है। संसार में देखने में तो यही आता है कि हर तरह व्यक्ति के जीवन में विपदा और सम्पदा अनियमित रूप से आया करती है। ट्रेजड़ी का मुख्य ध्येय होता है सामाजिकों के हृदय में भय और करुणा का संचार करना। यदि पुण्य और निरीहता की विजय निश्चित हो तो यह ध्येय कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। ट्रेजडी के घटनाचक्र में निरीह व्यक्ति कितनी ही विपदाओं से घिरा हुआ क्यों न हो पर यदि हमें यह निश्चित रूप से मालूम है कि अन्तिम अंक में आते उसकी विजय निश्चित है और वह अपने मंजिले मकसूद पर पहुँच कर ही रहेगा तब इन विपत्तियों का हमारे मस्तिष्क पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब हम उसे विपत्तियों से आक्रान्त देखते हैं तो हम अपने हृदय को इस बात से सान्त्वना दे लेंगे कि उसका उद्धार तो निश्चित है ही और उसकी कष्टावस्था, चाहे कितनी ही दारुण दीख पड़ती हो, आनन्दावस्था मे परिणत हो जायगी ही। यही कारण है कि प्राचीनकाल के ट्रेजडी ग्रन्थों में पुन्य की कभी विजय और कभी पराजय, जैसा कि संसार में दृष्टिगोचर होता है, दिखलाई गई है। उन्होंने किसी ध्येय के कारण घटनाओं को तोड़ा मरोड़ा नहीं है और तोड़ मरोड़ की है तो इसे ही ध्यान में रख कर कि उससे पाठकों पर वांछनीय प्रभाव पड़े। अरस्तू ने इन तीनों पद्धतियों पर लिखे ट्रेजडी ग्रंथों पर विचार किया है और उसने राय दी है कि विषादान्त ट्रेजडी प्रसादान्त नाटकों से सदा अधिक लोकप्रिय रही है और अभिनय में सदा बाजी मारती रही है। भय और करुणा के भाव मानव मस्तिष्क पर अनुकूल वेदना की छाप छोड़ जाते हैं और सामाजिकों को एक ऐसे गम्भीर शान्त विचारों में मग्न कर देते हैं जो आनन्द और सन्तोष की एक क्षीण लहर उत्पन्न करने वाले भावों की शक्ति के बाहर की बात है। इसी कारण आंग्ल ट्रेजडी ग्रंथों में पाते हैं कि अधिकतर उनको ही ज्यादा सफलता मिलती है जिनमें

सामाजिकों का प्रिय पात्र विपत्तियों के पहाड़ों से दब कर चकनाचूर हो जाता है और जिन नाटकों के पात्र विपत्तियों पर विजय प्राप्त करते से दिखलाई पड़ते हैं उनको इतनी सफलता नहीं मिलती है। इस तरह के कुछ सर्वोत्तम ग्रंथों के नाम ये है। The orphan, Venice Preserved. Alexander the great heodosies. All for love. Odipus Oroonko othello इत्यादि। King Lear भी शैक्सपियर के अन्य नाटकों की तरह एक उच्चकोटि की ट्रैजडी है। परन्तु चूंकि इसमें काव्योचित न्याय के थोथे सिद्धान्त के अनुसार थोड़ा सा परिमार्जन किया गया है अतः इसका आधा सौन्दर्य नष्ट हो गया है। साथ ही मैं यह भी स्वीकार करूंगा कि बहुत से ऐसे उच्चकोटि के नाटक ग्रन्थ हैं जो ठीक इसके विपरीत प्रसादान्त रूप में लिखे गये हैं। वास्तव में इस आलोचना पद्धति के बाद बहुत से अधिक ग्रंथ ऐसे ही रचे गये हैं जिनमें दूसरा ढंग ही पकड़ा गया है। उदाहरण स्वरूप The morning Bride, Tameriane, Ulysses, Phaedra and Hipplitos और ड्राइडन के अनेक ग्रन्थ। मैं यह भी स्वीकार करूंगा कि शैक्सपियर के बहुत से ग्रन्थ और प्राचीन युग के कुछ प्रसिद्ध नाटक इसी ढंग पर लिखे गये हैं। अतः मेरा विरोध इस ढंग पर लिखे गये ग्रन्थों से नहीं है पर उस आलोचना पद्धति से है जो इसी ढंग को एक मात्र ढंग मान लेती है। इस रूप में तो आंग्ल ट्रैजडी ग्रन्थों के विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा। इतना ही नहीं कदाचित इससे तो हमारे लेखक की प्रतिभा ग़लत मार्ग की ओर झुकेगी।"

ऊपर के दिये हुए लम्बे उदाहरण से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि अरस्तू के सिद्धांत ट्रैजडी ग्रन्थों में जिनका उद्देश्य भय और करुणा के भावों का उद्रेक करना होता है लागू होते हैं और अन्य रूपों के ग्रन्थों में उनसे काम नहीं निकल सकता। दूसरी बात यह है कि काव्योचित न्याय के सम्बन्ध में उसने अपनी मति स्थिर नहीं की है। हमें आगे एडिसन के कल्पना सम्बन्धी विचारों की चर्चा करने का अवसर मिलेगा और हम तब देखेंगे कि एडिसन भी काव्योचित न्याय वाले सिद्धांत का समर्थक है। वास्तव में काव्योचित न्याय वाले सिद्धांत की दार्शनिक और पारिभाषिक आधार भूमि इतनी दृढ़ है कि इसके औचित्य में शंका की गुंजाइश ही नहीं हो सकती। इस सिद्धांत पर विचार करते हुए आगे चलकर आलोचकों ने मसलन Mr. Moulton ने अपनी पुस्तक Shakespeare as a Dramatic Artist में बताया है कि Poetic Justice का अर्थ Correction of Justice अर्थात्

न्याय का संशोधन नहीं अपितु इसका अर्थ करना चाहिये Modification of Justice by consideration of arts. अर्थात् कला के अनुरूप न्याय का रूपान्तर।

कला का विषय भाव है और कला कृति ( यहाँ कविता ) उसका प्रतीक है। यदि कला कृति को प्रकृत वस्तु से बदलकर उपस्थित करता है तो केवल इसीलिए कि वह उसमें अपने भाव को इतनी सफाई से समाविष्ट कर दे कि एक अंधे को भी दिखलाई पड़ जाय। आखिर प्रकृत वस्तु से भी तो भावों की अभिव्यक्ति होती ही है पर किसी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को ही, किसी विशेष मानसिक अवस्था में ही। पर कला वस्तु में वे ही भाव आकर सर्व साधारण के लिए, हर समय के लिये सुलभ हो जाते हैं। अतः कला में Modification of Justice by the consideration of Arts रहता ही है। इसका दूसरा पहलू यह है। Poetic Justice के तत्व के सम्मिश्रण के कारण कला वस्तु में एक जीवनोन्नायक तत्व का समावेश हो जाता है। बेकन का कहना है कि प्रत्येक काव्य कला में एक आलौकिक ऐश्वर्य का भाग आ जाता है क्योंकि वह बुद्धि की तरह प्रकृत वस्तु के सामने झुकती नहीं, और मस्तिष्क को उनकी प्रकृति की अनुरूपता के लिए झुकाती नहीं पर वह प्रकृत वस्तु को ही मानव मस्तिष्क के ऊंचे आदर्श धरातल पर पहुँचने के लिए उन्नत कर उपस्थित करती है और मानव मस्तिष्क को अपनी स्वाभाविक ऊँचाई से गिरने नहीं देती।

इसी काव्योचित न्याय के साथ शिक्षा उपदेश या आदर्श की समस्या लगी हुई है। आजकल आलोचकों का दल है जो किसी कलात्मक जो रचना में किसी Moral को या आदर्शों को ढूँढा करता है। हिन्दी में प्रेमचन्द जी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यही है। इसके सम्बन्ध में भी एडिसन के विचार बड़े सटीक दिखलाई पड़ते हैं। एक फ्रान्स के लेखक पर विचार प्रकट करते हुए उसने कहा है, "मैं इस लेखक के इस मत से तो सहमत नहीं हूँ कि महाकाव्य के रचयिता अपनी कृति के लिये आधार के रूप में पहले से ही मन में कोई नीति शिक्षा की बात चुन लेते हैं और बाद में उसके अनुरूप कहानी की रचना करते हैं। पर हाँ, इतना जरूर मानता हूँ कि न तो कोई ऐसा महाकाव्य लिखा ही गया और न लिखा ही जा सकता है जिसमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा न मिल सके। मिल्टन की रचना जो शिक्षा से ओत-प्रोत है वह अत्यन्त उपयोगी और व्यापक है वह यह है कि ईश्वरेच्छा का पालन करना ही सुख है और उसकी अवज्ञा करने के कारण मनुष्य दुःखी होता है।"

इन विचारोंपर आज की प्रवृद्धमान आलोचना भी अधिक उन्नति नहीं कर सकी है। वास्तव में बात तो यह है कि एडिसन प्रथम व्यक्ति था जिसने आधुनिक आलोचना की नींव डाली और उसमे वे सब तत्व बीज रूप से वर्तमान हैं जो आज अनुकूल वातावरण पाकर फूल फल रहे हैं।

## एडिसन के हास्य सम्बन्धी विचार:–

जिस प्रसंग में एडिसन ने हास्य सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं वहाँ तीन शब्दों का प्रयोग किया है Wit, Judgment और Humour Wit मनुष्य की वह शक्ति है जो इस नाना रूपात्मक जगत में परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ने वाली वस्तुओं मे से समानता के कुछ सूत्रों को पकड़ लेती है और उसके सहारे अपने मनोकूल चित्रों की सृष्टि कर देखने और दिखाने में प्रवृत्त होती है। हिन्दी में इससे मिलता जुलता शब्द होगा कल्पना। Judgment वह शक्ति है जो विश्लेषण करती है. एक वस्तु को दूसरे से अलग करके देखती है और कहती है वस्तुओं की बाह्य समानता के धोखे में मत पड़ो। तर्क Judgment बुद्धि का व्यापार और काव्य से उसका कम ही सम्बन्ध रहता है क्योंकि काव्य का निवेदन मनुष्य के विवेचनात्मक बुद्धि के प्रति नहीं रहता परन्तु उसके सहृदयत्व के प्रति रहता है। Wit मे केवल यही देखना है कि उसमें समानता का सूत्र ही पर्याप्त नहीं पर इस सूत्र को इस ढंग से पकड़ना चाहिये कि उसमें एक आश्चर्य पूर्ण प्रसादन का समावेश होजाय। यह कहना कि 'क' की कंठ ध्वनि 'ख' के समान है एक वस्तु की सफेदी के वर्णन में कहा जाय कि वह दूध या बर्फ की तरह सफेद है तो यह Wit का उदाहरण नहीं होगा क्योंकि इसमें समानता बिलकुल ही स्पष्ट है। और दूसरी बात कि इसमें आश्चर्य पूर्ण प्रसादन(delight and surprise) की क्षमता एक दम नहीं है। एक कवि जब अपनी प्रेमिका के उरोजों का वर्णन करते समय कहता है कि उसका उरोज बर्फ की तरह उज्जवल है तो इसमें कुछ भी Wit नहीं पर वही जब कलेजा थाम कर कहता है कि आह! वह ठंडा भी है तो यही उक्ति Wit का रूप धारण कर लेती है क्योंकि समानता के अतिरिक्त उसमें आश्चर्य पूर्ण प्रसादन की शक्ति आ जाती है।

एडिसन ने Wit या Humour को तीन भागों में विभक्त किया है True, false, Mixed जिसको हम सच्ची कल्पना, कपोल कल्पना और मिश्रित कल्पना कहेंगे। Wit और Humour एक ही है। केवल अन्तर इतना ही है कि जब Wit में थोड़ा सा हास्य का पुट आ जाता है वह Hum-

cur कहलाने लगती है। साधर्म्य पर आश्रित कल्पना सच्ची है, स्थूल सादृश्य पर आश्रित रहने वाली कल्पना कपोल कल्पना है और साधर्म्य और सादृश्य दोनों के योग से निर्मित कल्पना मिश्रित कल्पना की श्रेणी में आयेगी। शेक्सपियर मिल्टन और होमर में पहली तरह की कल्पना Viogil, Lucrature और Cowky इत्यादि में मिश्रित कल्पना की प्रधानता है।

एडीसन ने False Humour पर भी विचार किया है। हिन्दी में उच्च कोटि के हास्य का सर्वथा अभाव है और जो कुछ इसके नाम पर लिखा जा रहा है वह False Humour ही कहा जा सकता है। अतः एडिसन के एतद् सम्बन्धी विचार अवलोकनीय और माननीय हैं। उसका कहना है कि False Humour की विशेषताएं कुछ ये हैं। इसमें विद्रूपता और भड़ोंआपन की प्रधानता रहती हैं। इसका कोई निश्चय उद्देश्य नहीं होता। यह समान रूप से सब पर प्रहार करता है चाहे वह पाप, मूर्खता, विलास प्रियता तथा लोलुपता हो, चाहे पुन्य चतुरता कष्ट दरिद्रता कुछ भी हो। इसमें कोई नैतिक शिक्षण का दृष्टिकोण नहीं पर केवल हास्य की योजना की जाती है चूंकि केवल विद्रूप करने के सिवा और किसी बात की मात्रा इसमें नहीं होती अतः इसकी हंसी का आक्रमण वैयक्तिक होता है। बुरे मनुष्य या लेखक विरुद्ध होता है। अधर्म या लेख के विरुद्ध नहीं होता। आजकल मतवाला का प्रकाशन हिन्दी में फिर से हुआ है। मेरी तो स्पष्ट सम्मति है कि एडिसन के द्वारा False Humour की दी हुई परिभाषा इसके सम्बन्ध में एकदम फिट बैठती है। पूरी पत्रिका पढ़ जाइये, पता नहीं चलता लेखक का व्यंग बाण किसका शिकार करना चाहता है गांधी का या गांधीवाद का।

## समीक्षा शास्त्र को एडिसन की देन—

विवेचनात्मक कल्पना साहित्य तथा कला के समीक्षकों के सामने सदा से दो प्रश्न उपस्थित होते रहे हैं और उनका चित्त समाधानक उत्तर देना बड़ा कठिन रहा है। भिन्न २ समीक्षकों ने भिन्न अवसरों पर भिन्न २ रूप में इन्हें सुलझाने का उपक्रम किया है। घटनायें वे ही हैं और पात्र भी वे ही हैं, वातावरण भी वही है जो वास्तविक जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं पर उनको यदि कवि अपने काव्य के बंध में बाँध कर हमारे सामने उपस्थित कर देता है तो उनमें एक विचित्र गुरुत्व कहां से आ जाता है उनमें इतनी शक्ति कहाँ से आ जाती है? इतना ही नहीं कभी २ तो ऐसा भी होता है कि जीवन की वे बातें जो हमारे हृदय को विक्षुब्ध कर देती हैं, जिनका नाम लेना भी हमारे लिए दुःख का कारण है, जो हमारे हृदय में

अपार शोक का संचार कर देती हैं वे ही काव्य में आकर इतनी आनन्द-दायिनी बन जाती हैं। यह क्यों? भवभूति के उत्तर-रामचरित-नाटक के कुछ अक्षरों में निबद्ध राम और सीता की मर्मान्तक पीडा को हम रस ले ले कर क्यों पढ़ते है? यह प्रश्न भी एडिसन के सामने था। इस प्रश्न का समाधान उसने उन लेख समूहों में करने की कोशिश की है जो Essay on pleasures of imagination के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उत्तर तो यह है कि प्रकृत वस्तु और कला वस्तु में अन्तर होता है। प्रकृत वस्तु अपने को हमारी इन्द्रियों के प्रति निवेदित करती है, उसका प्रभाव क्षेत्र हमारी एन्द्रियता से अधिक नहीं रहता, वह हमारी इन्द्रियों के सामने अपने रूप का प्रदर्शन कर वहीं शान्त हो जाती है। आगे बढ़ने की शक्ति उसमें नहीं रहती। पर कला वस्तु हमारी इन्द्रियों की राह से होकर हमारी विधायक कल्पना को भी प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य कर देती हैं। उसकी अपील हमारी इन्द्रियों को ओर न होकर विशेषतः कल्पना की ओर होती है। यही इस विरोधाभास का कारण है। कोई कलाकार यदि किसी प्रकृत वस्तु को अपनी कला के लिए चुनता है और उसे अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है तो उसके मस्तिष्क में जाकर उसका रूपान्तर हो जाता है और यही रूपान्तरित रूप ही काव्य या कला कृति के रूप मे हमारे सामने आता है। यही कारण है हमारी इन्द्रियों से ग्राह्य होने वाली प्रकृत वस्तु जिस तरह हमारे मस्तिष्क को प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य करती है, कलावस्तु उससे भिन्न रूप में ही प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। पानी के तीन रूप होते हैं, ठोस, तरल और वायव्य। यद्यपि वे पानी के ही भिन्न २ रूप हैं पर तीनों की प्रतिक्रिया एक ही नहीं होती है। बर्फ़ हमारे मस्तिष्क को एक तरह से काम में लाती हैं, पानी दूसरी तरह से और भाप तीसरी तरह से। अतः कलावस्तु का भी हमारे मस्तिष्क से काम लेने का एक विशेष ढंग है जो प्रकृत वस्तु के ढंग से भिन्न है। अतः उसका प्रभाव भी भिन्न ही होता है। दूसरे शब्दों में कला की अपील हमारी इन्द्रियों के प्रति नहीं परन्तु हमारी कल्पना के प्रति है। यह अपील केवल विषादान्त रचनाओं की ही नहीं परन्तु सब प्रकार की कलाकृति की है।

एडिसन ने पहले इस बात की परीक्षा की कि अहर्निश हमारे सम्पर्क में आने वाली प्रकृत वस्तु किस २ रूप में हम पर प्रतिक्रिया करती है। इस बात पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि प्रायः वे अपने स्थूल रूप के प्रतिबिम्ब को झलका कर समाप्त हो जाती है पर कभी २ ऐसा भी

होता है कि एक खास मानसिक अवस्था में अपने स्थूल रूप का आभास देने के साथ ही साथ एक विचित्र रहस्यमय ढंग से हमारे संवेदन को छू देती है। हमारी कल्पना में भाव उद्बुद्ध कर देती है। यदि आलोचक प्रवर रामचन्द्र जी शुक्ल के शब्दों को उधार लें तो कहा जा सकता है कि प्रकृत वस्तु से काम चलाऊ अर्थ ग्रहण मात्र नहीं होता पर कभी-कभी बिम्ब ग्रहण भी होता है। इस बिम्ब ग्रहण करने वाली दूसरी अवस्था में हमारे हृदय की एक विशेष आनन्दानुभूति होती है। इसी को संस्कृत साहित्याचार्यों ने लोकोत्तर आनन्द कहा है। जब हम कला वस्तु से उद्भूत आनन्द की जाँच-पड़ताल करते हैं तो पता चलता है कि इसका स्वरूप बहुत कुछ बिम्ब ग्रहण के आनन्द से मिलता जुलता-सा है। इससे एडिसन ने यह सिद्धांत निकाला कि उच्च कोटि का काव्य या कला वस्तु वही हो सकती है जिसमें बिम्ब ग्रहण कराने की शक्ति कल्पना-घनीभूत रूप में वर्तमान हो। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कला-कृति को सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि वह कल्पना को प्रभावित करे और यही कलाकार का ध्येय होना चाहिये। यदि यह सिद्धांत ठीक है तो आलोचना की सर्वोत्तम कसौटी निश्चित कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। किसी कला कृति के महत्वांकन की कसौटी यह नहीं कि वह साहित्य रचना के नियमों का कहाँ तक दृढ़ता से पालन कर सकी है, व्याकरण की दृष्टि से और छन्द बन्धन की दृष्टि से वह कहाँ तक ठीक है पर देखना यह चाहिये कि हमारी कल्पना को जाग्रत कर हमारे हृदय और मस्तिष्क के संवेदन को कहाँ तक जाग्रत कर देती है। यह ध्येय चाहे वह नियमों के पद चिन्हों पर चलकर प्राप्त कर सकी हो चाहे उसकी छाती पर इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। इस उलझन में तो वे पड़े रहें जिन्हें अपने पांडित्य का अकाण्ड ताण्डव करना है, हम तो मीरा के शब्दों में स्वर मिलाकर यही कहेंगे कि 'माखन मन काढ़ लियो छाछ पियो कोई'। यहाँ एक व्यक्तिगत बात के उल्लेख के लिए क्षमा माँगू। आये दिन मुझे विद्यार्थियों को कहानी कला के सम्बन्ध में कुछ न कुछ बतलाना पड़ता है और बतलाता भी हूँ कि कहानी की सफलता के लिए उसके शीर्षक की, प्रारम्भ की, वार्तालाप की इत्यादि-इत्यादि जाँच करनी चाहिये। पर इतना कह कर भी यही कहता हूँ कि कहानी को पढ़ कर जिस अंश में मेरे हृदय में यह देखने की गुँजाइश बनी रहती है कि इसका शीर्षक ठीक है या नहीं, वार्तालाप सजीव है या नहीं उसी अंश में मुझे लगता है कि कहानी असफल है। हम तो कहानी के अन्त में आते २ किस रस में ऐसे सराबोर हो जाना चाहते हैं जिसकी पावन धारा में ये सब

बातें बह जाँय। जब मैं यह बातें कहता हूँ तो शायद एडिसन के बिम्ब ग्रहण की बात का ही समर्थन करता हूँ।

अब उन बातों पर भी विचार कर लेना चाहिए जिन्हें (एडिसन ने) विधायक कल्पना के आनन्द के विषय में कहा है। एडिसन की मान्यता है कि मनुष्य की जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनमें चक्षु इन्द्रिय सबसे अधिक पूर्ण और आनन्द विधायनी है। दूसरी इन्द्रियों से जो अनुभूतियाँ होती हैं वे आनन्ददायकत्व में इसकी समता नहीं कर सकतीं। "यही चक्षुरिन्द्रिय कल्पना के सामने Ideas को उपस्थित करती है। अतः जब कभी मैं कल्पना के आनन्द की चर्चा करूँगा तो हमारा मतलब होगा चाक्षुष पदार्थ के आनन्द से। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे पदार्थ हमारी आंखों के सामने साक्षात् उपस्थित हों अथवा चित्र, मूर्ति वर्णन या और कोई अन्य उपाय से हमारे मस्तिष्क में उनके संस्कार जाग्रत हो जावें। हमारी कल्पना में ऐसे किसी भी पदार्थ की मूर्ति नहीं आ सकती जिसकी चाक्षुष प्रतीति हमें कभी न हुई हो। पर हम में इतनी क्षमता है कि हम अपने चाक्षुष प्रतीति की स्मृति को, पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी बनाये रख सकें। उसमें मनोनुकूल परिवर्तन कर सकें तथा विविध रूप में उसे संशोधित और परिवर्द्धित कर उससे हम आनन्द ले सकें।

चाक्षुष पदार्थ की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द ही कल्पना के आनन्द हैं। इस आनन्द को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है प्राथमिक और द्वितीय। पदार्थ के साक्षात् चाक्षुष प्रतीति से उपलब्ध आनन्द को प्राथमिक आनन्द कहेंगे। पर चाक्षुष प्रतीति से अनुभूत पदार्थ जब आँखों से ओझल हो जाते हैं ऐसी अवस्था में उनके बने स्मृति-संसार अनेक रूप और रंग से सुसज्जित होकर हमारे मानस के सामने उपस्थित होते हैं। इसे ही द्वितीय प्रकार का आनन्द Secondary pleasures कहेंगे। एडिसन का कथन यह है कि कला वास्तु द्वितीय प्रकार के आनन्द की सृष्टि करती है। जो कला इसकी सृष्टि जितनी ही अधिक मात्रा में करेगी वह उतनी श्रेष्ठता का भाजन होगी। वस्तु कला, चित्रकला, मूर्तिकला, तो द्वितीय प्रकार के आनन्द के साथ २ प्राथमिक आनन्द की भी सृष्टि में संलग्न रहती हैं पर काव्य तो विशुद्ध द्वितीय प्रकार के आनन्द की ही सृष्टि करता है अतः उसकी गणना सर्वोत्तम कला में की जाती है! अतः काव्य के सच्चे स्वरूप पर विचार करने के लिए एडिसन ने द्वितीय प्रकार के आनन्द की छानबीन विशेष रूप से की है।

पर इसके पूर्व कि पूर्णरूप से द्वितीय प्रकार के आनन्द के स्वरूप पर विचार किया जाय लगे हाथों एक बात पर विचार कर लेना चाहिये। माना कि किसी पदार्थ की चाक्षुष प्रतीति से ही प्राथमिक आनन्द की उत्पत्ति होती है परन्तु चक्षु संभूत जो प्रमेय वस्तु है वह अनेक धर्मी है। कहा भी है, 'अनेक धर्मात्मकं वस्तु' वस्तु अनेक धर्मों वाली है। उनमें कौन से धर्म से प्रभावित होकर हमारी कल्पना में प्राथमिक आनन्द की तरंगें लहरा उठती हैं? एडिसन के मतानुसार ये तीन धर्म हैं–भव्यता The great, वैचित्र्य The uncommon और सौंदर्य Beautiful। पर फिर प्रश्न होता है कि इन्हीं तीनों धर्मों में हमारी कल्पना क्यों आनन्द लेती है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए गम्भीर दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। पर संक्षेप में इसका उत्तर यह होगा कि परमात्मा ने जब जीवों की सृष्टि की तो उन्होंने हमारी आत्मा के निर्माण करते समय यह ध्यान रक्खा कि आत्मा में ऐसे तत्व हों कि वह ईश्वरीय विभूति और ऐश्वर्य (Divine greatness) पर मनन करे। वैचित्र्य के आनन्द के आकर्षण के कारण वह सच्चे ज्ञान की खोज में अनवरत लगा रहे और सौन्दर्य से लुब्ध होकर अपनी जाति की सृष्टि करे, अधिक प्रसन्न और आनन्द पूर्वक गीत की सृष्टि में संलग्न रहे।

कलाकृति से उद्भूत विधायक कल्पना की आनन्दानुभूतियों को लोकोत्तर या विशिष्ट इसलिए कहा जाता है कि केवल ऐन्द्रिय प्रतीति की स्थूलता इनमें नहीं होती और न तो मस्तिष्क को भार से आक्रान्त कर देने वाली दर्शन की गम्भीरता ही होती है। केवल इन्द्रिय ग्राह्य आनन्दानुभूतियों में मग्न रहने वाले को इन्द्रिय परायण ही कहा जा सकता है और यह बात निश्चित है कि इस तरह अपने को सीमा में बाँध कर लेने वाला व्यक्ति अपनी पूरी ऊँचाई तक नहीं उठ सकता। उसमें एक तरह से मानसिक शैथिल्य-सा आ जाता है जो उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में बाधा उपस्थित करता है। साथ ही दार्शनिकता की एकान्तिकता भी हमारे जीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष की नितान्त अवहेलना कर हमारे विकास में पूरी सहायता नहीं देती। लेकिन कल्पना की आनन्दानुभूतियाँ मध्यम मार्ग का अवलम्बन लेती हैं और हमको सरल, मृदु, व्यायाम देकर मानसिक शैथिल्य को दूर करती हैं। जहाँ तक प्राथमिक आनन्दानुभूतियों का प्रश्न है एडिसन स्वीकार करता है कि कलाकृतियाँ प्रकृत वस्तु की समानता नहीं कर सकतीं पर द्वितीय प्रकार की आनन्दानुभूतियाँ कलाकृतियों की अपनी विशिष्टता है और वह विशिष्टता चरम कला में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची हुई होती है।

किसी काव्य कृति पर विचार करने से पता चलता है कि इस क्षेत्र में कल्पना अपना व्यापार दो रूपों में करती दिखलाई पड़ती है। प्रथमतः तो वह कवि के मस्तिष्क को प्रभावित करती है। यह कल्पना का प्रथम व्यापार है और दूसरे व्यापार के द्वारा वह पाठक या श्रोता के चित्त को अनुकूल प्रतिक्रिया के लिए तत्पर कर देती है। प्रथम व्यापार में कल्पना केवल Primary Pleasure की ही सृष्टि में संलग्न रहती है। ये Primary Pleasures तब उत्पन्न होते हैं जबकि हमारी इन्द्रियां वाह्य उत्तेजना के कार्य क्षेत्र की सीमा के अन्दर रहती है। परन्तु जब ये बाहरी उत्तेजनाएं किसी कला वस्तु, जैसे मूर्ति, चित्र या काव्य का रूप धारण कर लेती हैं तो इन Primary Pleasures को उत्पन्न करने के साथ उनमें Secondary Pleasures को उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। कविता में कल्पना का यह दूसरा व्यापार ही अधिकत: तत्पर रहता है। चाक्षुष प्रतीति के द्वारा अनुभूत कलावस्तु के द्वारा जो भाव उत्पन्न होते हैं उनकी तुलना हम कलावस्तु की आनन्दानुभूति से करते हैं। इस तुलना की प्रतिक्रिया में जो एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है उसे ही Secondary Pleasures कहते हैं। जहाँ कला के माध्यम शब्द हो जाते हैं वहां तो Secondary Pleasures का ही साम्राज्य रहता है। अतः कविता एक ही काम करती है अर्थात Secondary Pleasures की सृष्टि।

कल्पना के प्रथम प्रकार के आनन्द के लिए, उसकी प्राप्ति को पूर्ण से उपलब्ध करने के लिए, अपने ज्ञान के क्षेत्र का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिये, आँखें खोल विश्व तथा प्रकृति का निरीक्षण करना चाहिये इस तरह से उसकी कल्पना शक्ति विकसित हो जायगी। इस विकसित कल्पना शक्ति का प्रयोग किस तरह करना चाहिये इसके बारे में एडिसन की राय निम्नलिखित है। "प्रकृत वस्तु में जो पूर्णता पाई जाती है मनुष्य उससे अधिक पूर्णता देखने का अभिलाषी होता है। परन्तु दुर्भाग्य ऐसा है कि इस पूर्णानन्द के अनुरूप प्रतिक्रिया करने वाली वस्तु प्रकृति में पाई ही नहीं जा सकती। दूसरे शब्दों में, मन वैसी वस्तु की कल्पना कर सकता है जो अधिक दिव्य, विचित्र और सुन्दर हो पर साथ ही चाक्षुष प्रतीति के द्वारा प्राप्त वस्तु में कुछ न कुछ त्रुटि उसको दीखती ही है। अतः कवि का यह कर्त्तव्य है कि जब वह किसी तथ्य का वर्णन करे तो प्रकृत वस्तु में यथोचित परिवर्तन और संशोधन कर उसे अपनी कल्पना के अनुरूप बना ले।" और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि एडिसन यहाँ बेकन के कण्ठ स्वर में ही बोल रहे हैं। कवि के लिए कोई

आवश्यक नहीं कि कवि का वसन्त कुछ महीनों तक ही रहे, उसका पुष्प किसी ऋतु विशेष में ही खिले, उसकी वस्तु देश और काल की सीमा से आबद्ध हो। नहीं, वह शाश्वत वसन्त की चर्चा कर सकता है, उसका पुष्प सदा खिला रह सकता है इसके जीवन का यौवन अक्षय हो सकता है। केवल बात यही है वह जो कुछ Modification करे वह कला के अनुरोध से हो "He may draw unto his description all the beauties of Spring and Autumn and make the whole year contribute to render it the more agreeable. His rose-trees, wood-lines and jessamine may flower together and his beds be covered at the same time with lilies, violets and amaranths."

संस्कृत साहित्य शास्त्र में वर्णित कवि समय की बातें एडिसन की उल्लिखित बातों से मिलती हैं। 'कवि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग राजशेखर ने किया था। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि देशकाल आदि के विरुद्ध वर्णन करना दोष ही समझना चाहिये पर कवियों के सम्प्रदाय में कुछ ऐसी बातें प्रचलित हैं जिन्हें दोष नहीं कहा जा सकता। इसी को विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में कहा है कि 'कवीनां समये ख्यातः गुणः ख्याति विरुद्धता' अर्थात् कवि सम्प्रदाय में जो बातें प्रसिद्ध हैं उनमें ख्याति विरुद्धता गुण होता है। आकाश और पाप यद्यपि रूप रहित वस्तु हैं परन्तु कवि सम्प्रदाय में वह मलिन (काले) प्रसिद्ध हैं। हास और कीर्ति को श्वेत कहते हैं। क्रोध और अनुराग को लाल कहते हैं। नदी, समुद्रादिकों में लाल, नीले, आदि रंग के कमलों का वर्णन करते हैं यद्यपि बहते पानी में और खासकर समुद्र में इनका होना असम्भव है इसी तरह साहित्य-दर्पण के सप्तम परिच्छेद में कवि समय की लंबी सूची देकर अन्त में कहा गया है "इत्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं महाकवीनां प्रबन्धे" अर्थात् और भी बहुत-सी बातें (कवि समय) महाकवियों के ग्रन्थों को पढ़कर जान लेनी चाहिये। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य दर्पण की ये बातें एडिसन की बातों से भिन्न नहीं हैं।

अनिवर्चनीय आनन्द से भर देती है। इसका कारण प्रकृत वस्तु के निरीक्षण में उसका उतना ही रूप हमारी कल्पना में उग सकता है जो हमारी आँखों द्वारा गृहीत हो सकता है। अतः हमारी आत्मा अपने को आवद्ध रूप में ही देख सकती है और उतने से उसे समाधान नहीं होता पर काव्य में प्रकृत वस्तु की ठोकर से जगाई प्रबुद्ध आत्मा की स्वछन्द क्रीड़ा का दर्शन होता है। अतः वहाँ हृदय की उन्मुक्तावस्था की प्राप्ति को अवसर मिलता है। प्रकृत वस्तु में हम दो विपरीत बातों को साथ ही साथ लगे पाते हैं जो जिनकी परस्परावस्थिति पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ आनन्दानुभूति में बाधा डालती रहती है। सुख के पास में ही दुख है, पुष्प के पार्श्व में ही काँटा है। सुवर्ण जैसी बहुमूल्य वस्तु में कठोरता है, जीवन के साथ ही मृत्यु है पर काव्य में आवद्ध हो कर मनोनुकूल भावों के आगमन का मार्ग तो काफी विस्तृत हो जाता है जिनसे होकर आनन्द का श्रोत प्रवाहित होता रहता है पर निरानन्द का मार्ग इतना पतला होता है कि आनन्द के प्रबल प्रवाह में उसकी पतली धारा का पता भी नहीं रहता। चन्दन के लेप से मनुष्य को अपार शीतलता का अनुभव होता है पर साथ ही उसकी पपड़ी की खुर-खुराहट महसूस होती है। पर उस शीतल आनन्द के सामने उस पपड़ी की खुरखुराहट को कौन पूछता है?

# लेसिंग

लेसिंग ने जर्मनी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Laocoon को १७६६ में प्रकाशित किया। लेसिंग अरस्तू का अनुयायी था और चाहता था कि अरस्तू के सिद्धांतों का साहित्य-क्षेत्र में अक्षरशः पालन होना चाहिये। अरस्तू के सिद्धान्तों की नींव जीवन तथा साहित्य की अकाट्य सत्यता पर डाली गई है उसने ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनमें शाश्वत सत्यता की ज्योति चमक रही है, जिनकी आभा कभी भी मलिन नहीं हो सकती। पर उसका अध्ययन सम्यक रूप से होना चाहिये। कहा जाता है कि किसी भी साहित्यकार या लेखक की रचना की सच्ची स्पिरिट को वास्तविक रूप में हृदयंगम करने के लिये पाठक की बुद्धि और हृदय को भी लेखक के धरातल तक उठना चाहिये। शेक्सपियर को समझने क लिये भी पाठक को कुछ-कुछ शेक्सपियर होना चाहिये। लेसिंग में अरस्तू को समझने के लिये सारे गुण वर्त्तमान थे। उसमें किसी वस्तु की काट-छांट करने तथा स्पष्टतया देखने की विश्लेषणात्मक प्रतिभा थी। यही अरस्तू की भी विशेषता थी और उसके शिष्यत्व की पात्रता के लिये किसी व्यक्ति में यह प्रतिभा आवश्यक थी। लेसिंग में दूसरा गुण किसी वस्तु पर व्यापक दृष्टि से उस पर एक Genetic और organic जीवित प्रवहमान और निरन्तर जीवित प्रगतिशील रूप से विचार करने की प्रवृत्ति थी। इस दृष्टिकोण के अनुसार सत्य के स्वरूप संगठन में मनुष्य के प्रतिक्रियाशील मस्तिष्क का वही हाथ है जो बाह्य प्रमेय वस्तु का। दोनों मिल कर संयुक्त रूप से सत्य की सृष्टि करते हैं। कलाकार की प्रतीति केवल ज्ञान-मात्र नहीं होती, वरन् यह भावनात्मक प्रतीति होती है, उसमें मनोवेगों का भी पुट रहता है, मानो ग्रहण वस्तु में जो अभाव रहता है उसे हृदय भर देता है। लेसिंग के मस्तिष्क की इन दो विशेषताओं ने उसे यूरोप के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों में प्रतिष्ठित किया है। Laocoon तो उसकी Master-piece है ही उसकी दो पुस्तकें Dramaturgie और Kleine schriften में जो साहित्य-सम्बन्धी विचार दिये गये हैं उनके सम्बन्ध में कालरिज का

कहना है कि वह प्रतिवर्ष उनका आलोचनात्मक ग्रंथ के आदर्श के रूप में परायण करता था।

लेसिंग ने अरस्तू के सम्बन्ध में कहा है कि, ' I would seem to sit aside Aristotle's authority, if only I could set aside his reasons. I have my own ideas about the origin and basis of this philosopher's Poetics, which I have not space to give here, yet I do not hesitate to give here (even at the cost of being laughed at in this enlightened age) that I consider them infallible as Euclid's elements their fundamental principles are just as true and certain, only not so definite, and therefore were exposed to mis-construction I trust to prove incontro vertibly, of tragedy in particular, that I can not depart a step from the rules of Aristotee without departing just so for from perfection. अर्थात् विवेक-बुद्धि का साथ छोड़कर ही मैं अरस्तू के आधिपत्य से बाहर जा सकूंगा। इस दर्शनवेत्ता की पुस्तक 'पोइटिक्स' की उत्पत्ति और आधार के सम्बन्ध में मेरे कुछ अपने विशेष विचार अवश्य हैं, जिन्हें यहाँ स्थानाभाव के कारण मैं अभिव्यक्त नहीं कर सकता। पर इतना कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं कि वे युक्लिद की स्वयंसिद्ध उत्पाद्यों की तरह अकाट्य हैं, चाहे इस प्रबुद्ध-युग में लोग इसके लिए मेरी हँसी ही क्यों न उड़ावें। उसके आधार भूत सिद्धांत पूर्णतः सत्य तथा ठोस हैं। हाँ, वे इतने दृढ़ नहीं है। अतः उनका अर्थ गलत लगाया जा सकता है। मेरा विश्वास है कि मैं इसे निश्चित् रूप से प्रमाणित कर सकूंगा कि साहित्यक रचना अपनी उच्चता मे खिसके बिना अरस्तू के सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं कर सकती। विषादान्त नाटकों के लिए तो यह विशेषरूप से लागू हैं।"

लेसिंग में यत्र तत्र ऐसे उद्‌गार हैं जिनके पढ़ने से एक साधारण पाठक को यह भ्रम हो सकता है कि वह क्लासिकल साहित्य के सिद्धान्तों के प्रति अंध श्रद्धा की भावना रखता है। यह बात ठीक भी है कि इस रोमान्टिक युग में भी अरस्तू की दुहाई देते वह नहीं थकता था। यह वह युग था जब जर्मनी के विचारक साहित्य और कला पर एक नूतन दृष्टि से विचार करने लगे थे। उस युग की प्रचलित आलोचना पद्धति के मूलभूत सिद्धान्तों में ही

वे अविश्वास करने लगे थे। कला का मूल्यांकन वे उसे भावात्मक अनुभूतियों व मनोवेगों की लपेट में लाकर करने का उपक्रम कर रहे थे। उन्होंने कलाकार को बंधन मुक्त कर दिया था, उसकी किसी भी प्रकार की परतन्त्रता के वे कायल न थे। वे सत्य को पहिचानना चाहते थे और सोचते थे कि कवि, चित्रकार, मूर्तिकार सब का एक ही कर्त्तव्य है और वह है एक शाश्वत और सार्वजनिक सत्य की अभिव्यक्ति। तिस पर ऐसे युग में लेसिंग महोदय बात २ पर अरस्तू की दुहाई देने लगे थे। ऐसी सूरत में यदि एक साधारण पाठक को यह भ्रम हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर उसकी पुस्तकों के गम्भीर अध्ययन से पता चलता है कि वह प्राचीन विचारकों के साथ इस तरह नहीं चलता जिस तरह एक सेवक स्वामी के साथ हीनता का भाव लिये हुये चलता हो। वह उन लोगों के साथ कन्धे-से-कन्धे भिड़ाकर मित्र की भाँति चलता है, उनकी बातों का विश्लेषण करता है, उन पर विचार करता है, कुछ को ग्रहण करता है, कुछ को छोड़ देता है और वैसे किसी सिद्धान्त का आदर नहीं करता जिसे वह अच्छी तरह कसौटी पर नहीं कस ले। वह उनका अध्ययन तो करता है पर उनको लूटता नहीं। He demands to be studied and not plundered. अरस्तू और लेसिंग में और भी कितनी ही तरह की समानतायें मिलती हैं। लेसिंग का ध्यान भी अरस्तू की तरह सौन्दर्य शास्त्र की दार्शनिक-विवेचना करना नहीं है। उसने भिन्न कलाओं की समस्याओं को देखा। उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार का निरूपण किया— यह देखने की कोशिश की कि उनमें कहाँ २ विभिन्नता है। उसने इन विभिन्नताओं के कारणों का निर्देश करते हुए भिन्न २ कलाओं का सीमा-क्षेत्र निर्धारित किया। भिन्न २ कलाओं के द्वारा अभिव्यक्त मानसिक व्यापार में जो एकता है उसे सर्व प्रथम पहचाना प्लेटो ने। उसने देखा कि चाहे संगीत हो, काव्य हो या मूर्ति कला या चित्र-कला हो, सर्वत्र हम एक ही विशिष्ट प्रकार की मनोगति और मनोयोग का दर्शन पाते हैं। इन सब कलाओं की सृष्टि में मानव-अभिव्यक्त प्रकृत वस्तु के प्रति एक विशिष्ट ढंग से प्रति क्रियाशील होता दिखलाई पड़ता है। इसे उसने mode of imitation कह कर पुकारा। तब से आलोचक-गण सब कलाओं में इस एकता के सूत्र को सर्वनिष्ठ रूप में स्वीकार करते आये हैं। अरस्तू ने कुछ ऐसे नियम बनाये थे जो सब कलाओं में समानरूप से लागू थे। उसने कहा कि कविता तथा चित्र में एक मौलिक विचार-सूत्र पूर्ण चित्र का चित्रण होना चाहिये, उन्हें सुन्दरता के नियमों का पालन करना चाहिये, उनके सारे अंगों में यथास्थान अनुरूपता होनी

चाहिये, और उनका आकार-प्रकार ऐसा हो कि वे पाठक या दर्शक के मस्तिष्क पर वांछनीय प्रभाव उत्पन्न कर सकें। उसने चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में काव्य-कला और मूर्ति-कला दोनों की तुलना भी की है और दर्शाया है कि Poylgnotious ने अपनी कविता में मनुष्य का आदर्श चित्रण किया है पर Dionysius के चित्रों में यथार्थ की प्रधानता है। जहां उसने गुण-दोष के विवेचन के लिये दो कवियों की तुलना की है, वहां उसने चित्र कला के भी उत्कर्षापकर्ष दिखालाने के लिये दो चित्रकारों को भी अपने सामने रखा है। तब से अनेक आलोचक काव्य और चित्रकला में समानता को अधिक-से-अधिक स्पष्ट-रूप से देखते और विवेचन करते आये हैं। होरेस, प्लुटार्क व जॉन्सन इस बात को स्वीकार करते आये हैं कि Poetry is a speaking picture and picture a mute poetry अर्थात् कविता बोलती तसवीर हैं और तसवीर मौन कविता! यह प्रवृत्ति आज यहाँ तक बढ़ गई है कि इंगलैंड के दार्शनिक विद्वान 'क्रोसे' आज कलाओं में विभिन्नता दूरकर देने ही पर तुले हैं। लेसिंग इस बात का विरोध करता है। उसका कथन है कि काव्य-कला में और चित्र-कला तथा अन्य कलाओं में अभिव्यक्ति का प्रकार एक ही नहीं हो सकता। काव्य में कुछ विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति को ही स्थान मिल सकता है, उसे अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति सह्य नहीं। उसी तरह चित्र-कला इत्यादि में भी अभिव्यक्तियों का प्रकार सीमित है, उनकी सीमा को उल्लंघित करने से उसे खतरे का सामना करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में कविता बोलती तसवीर नही और तसवीर मौन कविता नहीं। दोनों के क्षेत्र पूर्णतः अलग हैं, दोनों की सीमायें निश्चित् है, जिसके बाहर वे नहीं जा सकतीं।

अरस्तू के साथ दूसरी समानता यह है कि दोनों की पुस्तकों में Poe tics और Laocoon में–विचार व्यवस्थित क्रम से नहीं लिखे गये हैं। जिस तरह कोई मनुष्य मुख्य बातों को अपने निजी प्रयोग के लिये डायरी में लिख लेताहै, वे बातें स्पष्ट नहीं होतीं–लेखक ही उन्हें ठीक तरह से समझ सकता है, दूसरों को समझने में कठिनाई होती है; उसी तरह इन दोनों पुस्तकों के विचारों में भी क्रमबद्धता नहीं, ये नोट्स के रूप में लिखे गये हैं और यही कारण है कि इनके तरह-तरह के अर्थ लगाये गये हैं। कला-सम्बन्धी अपने विचारों को प्रगट करने के लिये लेसिंग ने ऐसी कविता और मूर्ति को अपने सामने रखा है, जिसका प्रतिपादित विषय एक ही हो, अर्थात जिस विषय को लेकर कविता की रचना की गई हो, उसी अभिव्यक्ति को लेकर मूर्त्ति भी गढ़ी गई हो। रोम के Vatican नगरी में कुछ मूर्त्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उन्हो भावों की अभिव्यक्ति की गई

है, जिनको वरजिल ने अपनी Aened नामक काव्य-पुस्तक में अपनी कविता का उपजीव्य बनाया है। कहानी यों है- लाँकून एक टोरजन का पुजारी था। कदाचित उसने कोई ऐसा अपराध किया था, जिसके कारण देवता-गण उससे अति ही क्रुद्ध थे। वे उसे पाप का दंड देना चाहते थे। एक दिन समुद्र के किनारे वह अपने प्रभु के साथ Poseidon की पूजा में संलग्न था। सामने समुद्र की उत्ताल तरंगें लहरा रही थीं। अचानक लहरों में से दो भीमकाय सर्प फुँफकारते हुये निकले। समुद्र की बालुकाराशि पर उनके शरीर की भयानक रेखा अंकित हो गई, उन्होंने लांकून को अपने कठिन पाश में आबद्धकर लिया। विरजिल ने वर्णन किया है कि किस तरह सर्पों ने लाकून को अपनी भयंकर लपेट में पकड़ लिया, उसकी कमर के चारों तरफ लिपट गये, उसकी गर्दन को परिवेष्ठित कर लिया और सर्प फन फैलाये आकाश में तने खड़े रहे। लाकून व्याकुल हो कर अपनी भुजाओं से सर्पों के आवेष्टन को दूर करना चाहता है और कष्ट से पीड़ित हो कर उसके मुख से जो चीत्कार निकलता है उससे सारा वायु-मण्डल गुंजायमान हो उठता है।

प्रश्न सामने यह आता है कि कविता के आधार पर मूर्ति की रचना हुई या मूर्ति के आधार पर कविता की। इस प्रश्न का हल कैसे हो? ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ बाह्य प्रमाणों द्वारा भी इस प्रश्न के समाधान में सहायता मिल सकती है, पर ये प्रमाण अकाट्य नहीं हो सकते। अतः कुछ आंतरिक प्रमाणों द्वारा इस प्रश्न का हल होना चाहिये। ऐसे आंतरिक प्रमाणों की आवश्यकता है जो अपनी सिद्धि के लिये अपने साथ अपना प्रमाण ले कर चलते हों। जो स्वतः प्रमाण्य हों, परतः प्रमाण्य नहीं। क्या कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिल सकता जो मूर्ति-कला और काव्य-कला में स्वाभाविक रूप से स्थित हो, मूर्ति-कला में मूर्ति-कला होने के नाते और काव्य कला में काव्य-कला होने के नाते नैसर्गिक रूप से उनमें अंतर्निहित हो और जिनकी प्रामाणिकता के लिए किसी बहि-साक्ष्य की आवश्यकता न हो। लेसिंग का कहना है कि ऐसे आंतरिक प्रमाण वर्तमान हैं। इन पर विचार करने से इस प्रश्न का वांछित समाधान तो होता ही है, साथ ही साथ कला-संबंधी और भी बहुत-सी बातों का पता चलता।

को स्पर्श करती हैं अर्थात् दोनों की आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? दूसरा ढङ्ग यह हो सकता है कि हम इतनी गहराई में पैठने के बदले इनकी ऊँचाई को देखें। इनकी बाह्य रूप-रेखा को देखें, भावनायें अपनी स्वरूपात्मक प्रतीति कराने के लिए जो विषयात्मक रूप धारण करती हैं, उनको देखें। एक शब्द में हम उनकी 'आत्मा' को न देखकर 'शरीर' को देखें, परिधान पर विचार करें।

यदि हम आत्मा-पक्ष की राह से देखते हैं, तो उत्तर सीधा-सादा है। कला का काम है हमें भाव की अनुभूति कराना। और इस काम को सफलता-पूर्वक संपादित करने के लिए वह अपना निवेदन, इन्द्रियों तथा बुद्धि के समक्ष उपस्थित न कर पाठक के सहृदयत्व और कल्पना के प्रति करती है! कला किसी वस्तु का सृजन इस सुस्पष्ट और प्रौढ़ ढङ्ग से करती है कि उसमें प्रकृत वस्तु दर्पण की भाँति झलक जाय; कलाकृति में प्रकृत वस्तु का भ्रम पैदा हो जाय। पर कविता प्रकृत वस्तु को अपनी कृति के सहारे हमारी कल्पना के *सामने रखती है। उस समय इतना मात्र ही नहीं होता कि प्रकृत वस्तु का* रूप स्पष्टतया हमारे मानस पटल पर अंकित हो जाय और हमें उसमें प्रकृत वस्तु का भ्रम मात्र ही होकर रह जाय, पर यह भ्रम तन्मयता की अवस्था तक पहुँच जाता है। यहाँ तक कि वे शब्द जिनके द्वारा इस भ्रम की सृष्टि होती है, उनका भी हमें ज्ञान नहीं होता और हमारी आत्मा स्वच्छन्द तथा मुक्त होकर भावों का भोग करती है। अन्य जितनी भी कलायें हैं, उनमें इस तन्मयता की प्राप्ति नहीं होती। कारण कि अन्य कलाओं का स्थूल उपकरण बीच-बीच मे अपना स्थूल रूप प्रगट करके इस स्वच्छन्दता में बाधा उपस्थित करता रहता है। पर शब्द तो भाव ही ठहरे, वे तो भाव ही हैं। वे रस के घड़े को साक्षात् पाठक के सामने उंड़ेल देते हैं। पाठक रस लेकर आगे बढ़ जाता है। उनमें जो स्थूलता कुछ मात्रा में पाई भी जाती है, पाठक की कल्पना में उससे रुकावट उत्पन्न नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि शब्दों में इतनी सामर्थ्यशील स्थूलता नहीं कि वह पाठक को उलझाये रख सके। यह उलझाने की शक्ति मूर्ति, वास्तव में चित्रकलाओं में अधिक है, अतः इन कलाओं की आत्मा को एक ही मानना भूल है।

संस्कृत-साहित्य शास्त्रियों ने भी काव्य को संगीतादि से श्रेष्ठ इसलिए माना है कि काव्य ही एक ऐसी वस्तु है, जो हमें रसावस्था तक पहुँचा सकती है। अन्य कलायें तो विनोदमयता तक ही ले जा सकती हैं। अतः दोनों का क्षेत्र भिन्न २ है। पर लेसिंग इस भीतरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से

कलाओं के क्षेत्र की भिन्नता निर्धारित नहीं करता। वह उन उपकरणों को देखता है जिसका प्रयोग भिन्न २ कलाओं में होता है। उदाहरणार्थ वह देखता है काव्य में अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से, चित्र में रंग के माध्यम से, मूर्ति में पत्थरादि के माध्यम से होती है। चूंकि इन कलाओं में भिन्न २ माध्यमों का आश्रय लिया जाता है और इन माध्यमों की अभिव्यंजना-शक्ति भिन्न २ है। अतः इन सबके क्षेत्र भी असमान ही है। न चित्र से मूर्ति या काव्य का कार्य निकल सकता है और न काव्य से चित्र या मूर्ति का। यदि मूर्ति से काव्यात्मक अभिव्यक्ति का काम लिया जाने लगा अथवा काव्य से मूर्त्यात्मक अभिव्यक्ति का काम लिया जाने लगा तो एक दूसरे के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश की चेष्टा होगी।

अब मूल प्रश्न पर आइये। चित्रकार या मूर्तिकार ने कवि का अनुकरण किया या कवि ने उनका? वरजिल ने अपनी पुस्तक एनिड में जो लाकून का वर्णन किया है और मूर्तिकार ने जो उस विषय को ले मूर्ति गढ़ी है, दोनों को एक साथ रखकर विचार कीजिये और देखिये कि दोनों में कहाँ २ और किन २ बातों का अन्तर है, किन २ बातों का समावेश एक में है व दूसरे में नहीं। यदि कवि की कविता में जो अन्तर पाया जाता है, वह ऐसा है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है, साधारणतया उसे छोड़ देना सम्भव न था, उन्हें छोड़ देना अपनी कृति का महत्त्व घटाना होता पर कवि को जिस माध्यम-शब्द के सहारे अपने भावों की अभिव्यक्ति करनी है, उसके कारण बाध्य होकर उसे छोड़ना पड़ा है तो स्वाभाविक निष्कर्ष यही होगा कि कवि ने मूर्तिकार का अनुकरण किया है। यदि मूर्ति में काव्य से अन्तर दिखलाई पड़ता है, वह ऐसा है कि मूर्तिकार को अपने माध्यम के कारण उन्हें लाने की बाध्यता थी तो हम यह कहेंगे कि मूर्तिकार ने कवि का अनुकरण किया है। अनेक विवेचन के बाद लेसिंग इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूर्तिकार ने ही कवि का अनुकरण किया है। इसके पक्ष में प्रमाण क्या है?

मूर्ति तथा काव्य में लेसिंग ने तीन चार अन्तर पाये। मूर्तियाँ नग्न-रूप से दिखलाई गई हैं, पर काव्य में पात्रों की वेश-भूषा और सज्जित परिधान का भी वर्णन है। मूर्ति में सर्पों का परिवेष्टन शरीर के अन्य अंगों से हटा कर जांघों व पैरों की तरफ लिपटा दिखलाया गया है। लॉकून की पीड़ा-जनित ध्वनि काव्य में सारे वातावरण को गुंजित कर देती है, पर मूर्ति की मुख-मुद्रा में एक विचित्र शान्ति विराजित है, यहाँ एक संयम है मानों वह अपने हृदय की पीड़ा को अन्दर ही छिपा कर रखना चाहता है, यदि संसार को

उसकी थोड़ी झलक मिल भी जाती है तो मूर्तिकार के प्रयत्नों के बावजूद। मूर्ति में ओष्ठ पीड़ा के आतिशय्य के कारण थोड़े से खुले दिखाये गये हैं।

लेसिंग इन अन्तरों को सामने रख कर तर्क के लिये इस मान्यता को लेकर चलता है कि कवि ने मूर्तिकार का अनुकरण किया, पर अंत में विश्लेषण के द्वारा इस परिणाम पर पहुँचता है कि मूर्ति में जितने परिवर्तन करने पड़े हैं, वे माध्यम के अनुरोध से करने पड़े हैं। यदि कला कोई दूसरा माध्यम चुनती तो ये परिवर्तन कदाचित नहीं करने पड़ते।

प्रथम परिधान की ही बात लीजिये! काव्य में माध्यम की सूक्ष्मता के कारण पाठक की कल्पना का वर्ण्य वस्तु से अप्रतिहत सम्बन्ध होता है। चाहे पात्रों को परिधान से लपेट कर इस तरह दिखाया जाय कि वे साधारण आँखों के लिये अभेद्य हों, पर कल्पना तो उसे देख ही लेती है। अतः कविता में कल्पना की इस अप्रतिहत गति के कारण वस्तु के भाव तथा अभाव का कोई महत्त्व नहीं रहता। A garment is no garment for a poet, it hides nothing; our imagination sees beneath it everywhere. वास्तव में बात तो ऐसी है कि काव्य में पात्रों के परिधान के कारण कल्पना को और भी गतिशील होने का अवसर मिल जाता है और जिस पीड़ा व दुर्भाग्य की अभिव्यक्ति कवि करना चाहता है उसमें और भी सहायता मिलती है। पाठक यह देख कर स्तंभित हो जाता है कि हाय रे मानव! मनुष्य की सारी धार्मिक महानता भी, उसके सारे पुण्य व धार्मिक कृत्य उसकी भाग्य-लिपि के सामने काम नहीं आते। विधि की विडम्बना तो देखो-जिसे सारा विश्व आदर व श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, वही आज साँपों के विष-छींटों से गर्हित हो कर तजोहीन पड़ा हुआ है? धिक् मानव जीवन!!!

परन्तु मूर्तिकार के सामने कुछ दूसरी ही समस्या थी। भूलना न चाहिये कि ग्रीक कलाकारों के यहाँ ठोस व बाह्य सुन्दरता का बड़ा महत्त्व था। उनके मतानुसार कला चाहे अन्य तत्वों की उपेक्षा कर दे पर वह 'सुन्दरम्' की उपेक्षा कर ही नहीं सकती। उनके अनुसार सौंदर्य-कला का प्राण है। यही कारण है कि प्राचीन ग्रीस की सारी कला-कृतियों में किसी भी मूर्त्ति की मनोदशा निराश या क्रोध-पूर्ण नहीं दिखाई गई है। इसका कारण यही है कि ऐसी कला-कृतियों में भावना को सच्चे रूप में अभिव्यक्त करने के लिए रूप को इतना विकृत कर देना पड़ता है कि वे वीभत्स हो आँखों को खटकने वाली हो जाती हैं। उसको देखकर आनन्दोल्लास के स्थान पर विरक्ति का संचार हो जाता है। आप Timanthes द्वारा अंकित Iphigeneia के बलिदान के चित्र को

ध्यान-पूर्वक देखिये। बलि देने की तैयारी हो रही है; बहुत से दर्शक खड़े हैं, साथ में पिता भी खड़ा है, सब की मुख-मुद्रा में दुख के चिह्न अंकित हैं, पर पिता के हृदय में जो दुख व विपत्ति की आग लहरा रही है उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इसका कारण यह नहीं कि चित्रकार में उसको अंकित करने की क्षमता नहीं थी, पर बात तो यह थी कि दुख के उस बाड़व-दाह को Agamemnon की मुख-मुद्रा में अनेक विकृति, तोड़-मरोड़ और सिकुड़न अंकित किये बिना दिखलाया ही नहीं जा सकता था। यदि ऐसा करने का प्रयत्न चित्रकार करता तो सारा चित्र एक वीभत्स आकृति धारण कर लेता। अत: चित्रकार को चित्र-कला के—उस चित्रकला जो के 'सुन्दर' की मांग करती है—अनुरोध से इस पक्ष को पूर्णतः छोड़ देना पड़ा।

कहने का अर्थ यह है कि मूर्तिकार को आँखों के सामने—कल्पना नेत्र के सामने- लाकून के हृदय की करुणा-मूर्ति प्रस्तुत करनी थी। और यह तभी हो सकता था, जब उसके अङ्गों की ऐंठन को प्रदर्शित किया जाय यदि मूर्ति में लाकून के ललाट पर chapbt लगा ही रहता तो उसकी हृदयस्थ पीड़ा की अभिव्यक्ति में बाधा पड़ती। प्रत्येक को मालूम है कि ललाट में उगी हुई शिराओं की सिकुड़न से मनुष्य की आन्तरिक पीड़ा अभिव्यक्त होती है। यदि वही भाग जो पीड़ा की अभिव्यक्ति का केन्द्र है छिपा रहता तो भावों का प्रदर्शन ही कैसे हो सकता था? अतः मूर्तिकार ने परिधान को अनावश्यक समझा।

दूसरी ओर Ænid में वर्णित लाकून के गगन-भेदी क्रंदन को लीजिये। मूर्ति में यह क्रंदन अधखुली आह के रूप मे रह गया है। यह क्यों? शारीरिक पीड़ा के कारण मनुष्य की रोदन-ध्वनि को महान् व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध कर के दिखाना क्या तब निंदनीय समझा जाता था? ग्रीक-कला को देखने से यह बात तो मालूम नहीं पड़ती। स्वयं 'एनिड' में ही उसका अति-विस्तृत वर्णन इस बात को असत्यता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। अतः इस परिवर्तन का एक-मात्र कारण (explanation) यही है कि मूर्ति-कला के अनुरोध से ही यह बात की गई थी। बात यह है कि यदि मूर्ति में इस चीत्कार को अङ्कित करने का यत्न किया गया होता तो मूर्ति एक कदाकार रूप धारण कर लेती और सौंदर्य का ह्रास हो जाता। "Only imagine the mouth of laocoon to be forced open, and then judge! Let him shrick, and look at him! ... The mere wide opening of the mouth ... is, in painting, a spot, and in sculpture

a-cavity, both of which prrduce the worst possible effect.' अर्थात् कल्पना कीजिये कि लाकून का मुख खूब खोल कर दिखाया गया है और विचार कीजिये ! उसे तार-स्वरेण चीत्कार करा के देखिये। मुख का अत्यधिक खुला दिखलाया जाना, चित्र-कला में एक दाग की तरह दिखलाई पड़ेगा और मूर्ति-कला में एक गुफा की तरह और दोनों का प्रभाव अत्यधिक नाशकारी होगा। कहने का अर्थ कि काव्य में वर्णित गगन-भेदी चीत्कारों को दिखलाने के कारण मूर्ति का सारा सौन्दर्य जाता रहता और वह घृणास्पद हो जाती। अत: यह आवश्यक था कि उसे एक आह का ही रूप दिया जाता व वस्त्रों को हटाकर अंगों की ऐंठन के सहारे पीड़ा की अभिव्यक्ति होती। मूर्तिकार ने यह बात ठीक समझी। उसने यही किया भी है।

यहाँ चित्र की वीभत्सता की बात चल रही है अतः मुझे एक व्यक्तिगत अनुभव की बात याद आ गई है। आपने भी शायद शास्त्रीय-संगीत के अखाड़े-बाज गायकों को देखा होगा। जब वे अपने शास्त्रीय गीतों के तराने प्रारम्भ करते हैं, अपने गले की कलाबाजी दिखलाने लगते हैं, उस समय उनके मुख की मुद्रा जो वीभत्साकृति धारण कर लेती है उसे देख कर धीरज खो जाता है। उनकी शिरायें जो तन जाती हैं, 'प्राण-प्रयाण-समये कफ-वायु-पितैःश्वासावरोध' मुद्रा को देख कर मेरे मन में तो यही होता है कि हाय रे सोटा तो घर पर ही रह गया, अन्यथा या तो मेरा सोटा रहता या इनकी खोपड़ी ही रहती। कुछ इसी तरह की भावना मूर्तिकला व चित्र कला में आवश्यक परिवर्तन को अनिवार्य कर देती हैं।

ठीक यही बात, परिवेष्ठन-सम्बन्धी परिवर्तन के बारे में कही जा सकती है। विरजिल ने कहा है कि सांपों ने दो बार लाकून के मध्य भाग तथा गर्दन को लपेट लिया। पर मूर्तिकार ने परिवेष्ठन को स्थानांतरित करके पैर तथा जांघों में लिपटा दिखलाया है। इसका कारण क्या है ? विष-प्रवेश के गर्म-प्रभाव व शारीरिक पीड़ा की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही मूर्तिकार का उद्देश्य था। उस उद्देश्य की पूर्ति काव्य में वर्णित बातों को ज्यों का त्यों रख देने से नहीं होती और सारा मज़ा किरकिरा हो जाता। [इस दृष्टि से सफल मूर्ति के लिये आवश्यक था कि शरीर के प्रधान भागों को स्पष्टतया दिखलाया जाय और कहीं भी बाह्य-दबाव न प्रदर्शित किया जाय जो पीड़ित शिराजालों व मांसपेशियों को छिपा ले। दुहरे परिवेष्ठन से शरीर लगभग पूरा ढक-सा जाता है और नाभि-प्रदेश का आकुंचन, जो इतना भाव-प्रकाशक होता है, दिखलाया नहीं जा सकता। परिवेष्ठन के ऊपर या नीचे तथा उनके बीच का अंश

कहीं तो सिकुड़ा हुआ व कहीं उभरा हुआ दिखलाई पड़ता जिससे बाह्य दबाव की अभिव्यक्ति तो हो सकती थी, पर आंतरिक पीड़ा की नहीं। विरजिल के द्वारा वर्णित गरदन के दुहरे परिवेष्ठन से Pyramidal accumulation का प्रभाव एक दम नष्ट हो जाता है, जिससे ये मूर्तियाँ नेत्र सुलभ तथा आनन्द प्रद बन गई हैं। काव्य में वर्णित दो उठे हुए फणों का प्रदर्शन तो अनुपात के साथ इतना अत्याचार करता कि वह मूर्ति एकदम विद्रूप हो उठती। इन सब बातों का ख्याल कर और सुन्दरता की रक्षा के लिए मूर्ति में ये परिवर्तन किये गये हैं। दूसरी बात यह कि पैरों और जांघों में परिवेष्ठन के पड़ जाने से गति अवरुद्ध हो जाने की भावना अभिव्यक्त होती है, जिससे मूल पीड़ा-भाव की अभिव्यक्ति में और भी सहायता मिलती है।

ऊपर की विचार पद्धति में काव्य वर्णन को ही आधार वस्तु मान कर विचार किया गया है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि अनुकरण मूर्तिकार की ओर से किया गया है, जिसे अपने माध्यम के अनुरोध से यत्र-तत्र परिवर्तन कर देने पड़े हैं। पर अब इस वैकल्पिक मान्यता को लेकर विचार किया जाय कि मौलिक वस्तु तो मूर्ति है और कवि ने उसी से संकेत पाकर अपने भावों को वाणी दी है। लेसिंग ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि इस विकल्प को सत्य मानकर हमें कितनी व्यर्थता का सामना करना पड़ेगा। प्रथमतः लाकून के दारुण चीत्कारों के समावेश की बात लीजिये। लेसिंग का कहना है मूर्तिकार ने लाकून की पीड़ा-जनित चीत्कारों का चित्रण नहीं किया तो इसके लिये उसके पास आवश्यक कारण थे। पर मूर्ति में जो वेदना व सौंदर्य के कलात्मक मिश्रण की छवि है, उसे काव्य में दूर रखने के क्या कारण हो सकते हैं। वेदना व सौंदर्य के सम्मिश्रण से मूर्ति में जो एक गौरव-मंडित और उच्चाशय धैर्य के भाव झलक रहे हैं उन्हें पूर्णतया दूर कर के स्थान पर लाकून के भयोत्पादक चरित्र को ला खड़ा करने के लिये कौन-सा उस महत्त्वपूर्ण कारण हो सकता है?

'दूसरी बात यह है कि यदि मूर्ति को देख कर काव्य-प्रेरणा उत्पन्न होती तो कभी भी संभव न था कि कवि ने उस बात को छोड़ दिया होता, जिसमें मूर्ति कला का सारा सौन्दर्य निहित है। मूर्ति में सब से सौंदर्य-वर्द्धक अंकन है सर्पों के आवेष्ठन में तीन-तीन व्यक्तियों का आबद्ध हो जाना।...यदि कवि ने मूर्ति को देख कर कविता की रचना की होती, तो इसका प्रभाव उस पर इस तरह पड़ता कि उसे बाध्य होकर अपनी कविता में इस भाव को अति विस्तार देना पड़ता। माना कि इस उलझन के वर्णन का अवसर नहीं था, पर उसे

जिस गौण अवस्था में रखना था; उसमें एक-दो शब्दों के समावेश से एक विशेष चमत्कार आ जाता। यदि कवि ने इस भाव को मूर्त्ति से पहले देखा होता तो कभी भी संभव नहीं कि जिस भाव को शब्दों के बिना मूर्त्तिकार ने अभिव्यक्त किया है, उसके लिए कवि एक दो शब्दों के प्रयोग में कंजूसी करता। अतः अनुकरण का काम मूर्त्तिकार की ही ओर से हुआ है' इस बात के विवेचन के अंत में लेसिंग कहता है, "When the artist has made the deviations; these deviations are not in consistent with the supposition that he intended to imitate the poet since the scope and limits of his art make them necessary for him.' If, on the other hand, we assume that it is the poet who has been the imitator, then all the deviations to which I have attended go to disprove the assumed limitations'. अर्थात् जब मूर्त्तिकार ने कोई परिवर्तन किया है तो ये परिवर्तन ऐसे नहीं हैं जो मूर्त्तिकार के द्वारा कवि का अनुकरण करने वाली मान्यता से असंगत पड़ते हों, क्योंकि मूर्त्ति कला के क्षेत्र और उसकी सीमाओं के कारण वे अनिवार्य हो जाते हैं। यदि हम यह मानें कि कवि ने मूर्त्तिकार का अनुकरण किया है, तो जितने परिवर्तन की मैंने ऊपर चर्चा की है वे सब इस तरह के अनुकरण की बात को अप्रमाणित करते हैं।

एक प्रश्न निर्णय कर लेने के पश्चात् लेसिंग काव्य व मूर्त्तिकला के स्वभावगत व मौलिक भेद का विश्लेषण करने के लिये अग्रसर होता है और विचार करता है कि एक काव्य चित्र ( Poetic-picture ) और एक कला-चित्र ( Artistic-picture ) में क्या अन्तर है ? पाठकों ने विहारी-सतसई, दुलारेलाल दोहावली तथा रामायण जैसे अनेक ग्रंथों के ऐसे अनेक संस्करण देखे होंगे जिनमें काव्य में वर्णित बातों को लेकर चित्रों की रचना की गई है और वे मूल कविता के साथ दिये गये हैं। दीपशिखा और सांध्य-गीत में तो महादेवी जी ने अपनी सारी कविताओं के साथ तद्भाव-व्यंजक चित्र भी दिये हैं। उसी तरह (Countcaylus) नामक एक विद्वान ने होमर के काव्य से ऐसे काव्य चित्रों की निर्वाचन किया है, जिन पर कला चित्रों की रचना हो सकती है। पर लेसिंग पूछता है कि यह निर्वाचन का प्रश्न ही क्यों उठता है, क्यों कुछ काव्य-चित्र चित्र-कला के लिए उपयुक्त समझे गये और कुछ नहीं ? यदि दोनों कलाओं में समानधर्मिता होती तो कुछ काव्य-चित्रों को ग्रहण करने और शेष को छोड़ देने का प्रश्न ही क्यों

उठता, निस्संकोच एक को दूसरे के रूप में परिवर्तित किया जा सकता। पर बात ऐसी नहीं। जहां शब्दों के झंकार द्वारा काव्य में संगीतात्मक चित्रण किया जाता है, उसे हम चित्र-कला का विषय कैसे बना सकते हैं ? Dryden का Ode upon st. ceciba's day को ही लीजिये, 'अमृत-ध्वनि' की तरह हिन्दी की अनेक काव्य-रचनायें लीजिये, इनके अनुरूप चित्रण चित्र-कला के द्वारा कैसे हो सकता है ? कवि तो दृश्य और अदृश्य, मूर्त्त या अमूर्त्त सब तरह के विषयों को अपने काव्य का आधार बना सकता है पर चित्र में अदृश्य व्यक्ति कैसे आ सकता है ?

एक उदाहरण लीजिये Count caylus से ही। संपूर्ण होमर-काव्य में Pandarus का चित्रण ऐसा है जो अत्यंत श्रेष्ठ व प्रभावोत्पादक कहा जा सकता है। धनुष धारण करने से लेकर बाण के छूटने के बीच की सारी क्रियायें, सारे क्षण बड़ी ही कुशलता से वर्णित किये गये हैं। उनके वर्णन में इतनी कुशलता से काम लिया गया है कि यद्यपि एक क्रिया दूसरी क्रिया से क्षण-क्षण पर बदलती है तथापि एक धनुर्विद्या से अनभिज्ञ व्यक्ति भी केवल शब्द चित्रण के सहारे बाण चलाने की कला में प्रवीणता प्राप्त कर ले सकता है। Pandarus का धनुष धारण करना, उसकी प्रत्यंचा का ठीक करना, तूणीर को खोलना, एक नूतन कोरे पंखदार बाण का निकालना, प्रत्यंचा पर उसे स्थापित करना, ठीक मूठ के नीचे प्रत्यंचा सहित बाण को खींच कर वक्षस्थल तक ले जाना, एक ध्वनि के साथ बाण का निकालना, प्रत्यंचा का प्रकम्पित होना, बाण का उड़ कर अपने लक्ष्य को भेदना—ये बातें ठीक स्पष्ट रूप से वर्णित की गई हैं। प्रश्न यह होता है कि यदि कवि की सफलता इसी में है कि वह अधिक से अधिक चित्रोपम-चित्र दे—जैसा Count caylus का सिद्धान्त है—तो उन्होंने होमर के ऐसे सजीव वर्णन को चित्र-कला के लिये न चुनकर एक साधारण चित्र को चुना जिसमें देवगण Zeus के राज-प्रासाद में एकत्र होकर सुरा-पान कर रहे हैं। स्पष्ट तथा उत्तम का यह त्याग और साधारण का यह ग्रहण किस कारण से हुआ ?

लेसिंग का कहना है कि इसका कारण दोनों कलाओं की भिन्नता है। काव्य-कला क्रिया-शील, प्रगतिमान और निरन्तर प्रवृद्ध होती है, चित्र-कला स्थिति, स्थान, वस्तु-निर्देशक होती है। समय का सातत्य व नैरंतर्य कवि का क्षेत्र है और स्थान चित्रकार का। ऐसे विषय जिनकी पूर्णता या अंश एक दूसरे के पार्श्व में स्थापित रहते हैं, जैसे दृश्यमान धर्म वाले जीव, वे चित्रकार की कला के लिये उपयुक्त होते हैं। दूसरी ओर ऐसे विषय जिनकी पूर्णता या

अंश एक के बाद दूसरे क्षणों से सम्बन्धित हैं, जैसे क्रियायें, वे काव्य के लिये उपयुक्त हैं। "Successoon of time is the department of the poet as space is that of painter." ...'Subjects whose wholes or parts exists-in juxtaposition...bodies with their visible properties...are the subjects of painting'...'subjects whose wholes or parts are consecutive...are peculiar subject of poetry'.

काव्य-प्रगति का प्रतिनिधित्व करता है, चित्र पार्श्वता का। पिंडारस का धनुष-संचालन चित्र का विषय इसलिये नहीं हो सकता कि इसमे एक-एक करके कार्य-व्यापार का विवरण है, जिनकी भिन्न प्रक्रियायें एक पर एक लगातार आने वाले भिन्न-क्षणों में घटित होती हैं। दूसरा दृश्य जिसमें Zeus के राज्य-प्रासाद में सुरा-पान हो रहा है, चित्रकला के लिये अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि वह ऐसे स्थिर भाव का वर्णन है, जो एक ही क्षण में एक ही स्थान पर दिखलाया जा सकता है। जहां तक एक प्राकृतिक दृश्य का तथा एक जीव-शरीर के चित्रण का प्रश्न है, चित्रकला काव्य-कला से कहीं अधिक सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। उसी तरह एक क्रियाशील मानव मस्तिष्क की गति-विधि के चित्रण मे भी चित्र-कला काव्य-कला की बराबरी नहीं कर सकती। यह बात होमर के काव्य-ग्रन्थ को पढने से स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिये कि होमर को एक जहाज का वर्णन करना है। वह कभी भी जहाज के कल-पुर्जों का विस्तृत वर्णन करने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह यही कहेगा कि जहाज खोखला है या शीघ्रगामी ( Swift ) अथवा ज्यादा मे ज्यादा कहेगा Well-rowed-blackship, परन्तु जहाज को यात्रा के लिये प्रस्थित होना, पाल तानना इत्यादि क्रम-बद्ध क्रियाओं के लिये उसकी लेखनी चंचल हो उठेगी। लेसिंग ने ऐसे उदाहरण भी दिये हैं, जहां किसी नारी की सुन्दरता के वर्णन के लिये कवि ने नख-शिख में अपनी सारी शक्ति समाप्त करदी है फिर भी न जाने क्यों उस वर्णन के द्वारा सुन्दरता की मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकी है। Ariosto ने Orlando Furioso नामक पुस्तक में Alcina के ऐन्द्रजालिक सौंदर्य के वर्णन में उसके विविध अंग-प्रत्यंगों के वर्णन में क्या नहीं कहा है। उसके घुंघराले बाल, भूरे केश-कलाप, गुलाबी कपोल, भौंहें काली, वक्र चितवन, अनुपम नासिका, गरदन, दन्तावली, उरोज, भुजायें आदि सब अंगों का वर्णन मौजूद है। पर न जाने क्यों, इन सबके बावजूद भी पाठक का हृदय अछूता ही रह जाता है; उसमे

वह तल-स्पर्शिता नहीं आई है, जो एक सौन्दर्य की ज्योति से पाठक के हृदय को उद्भासित करदे। सौन्दर्य के दर्शन से जो रक्त में कोमल भावनायें जाग उठती हैं, उनको जगाने की शक्ति इन शब्दों में नहीं हैं। एक आलोचक के शब्दों में 'The words are incapable of conveying those soft eomtions of blood that accompany actual sight of beauty'.

चित्र-कला और काव्य-कला के तारतम्य के विवेचन के पश्चात् एक और प्रश्न सामने आता है कि तब क्या यह मान लिया जाय कि क्रियाशीलता और गतिशीलता की अभिव्यक्ति का सारा क्षेत्र चित्रकला के लिये वर्जित है और चित्रकार की तूलिका इसे स्पर्श नहीं कर सकती ? उसी तरह कवि कभी वर्णनात्मक नहीं हो सकता अर्थात् एक ही क्षण मे घटित सारी परिस्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता ? अंग्रजी साहित्य के वर्णनात्मक-साहित्य को पढ़ने वाले तथा शब्द-चित्रण (Word painting) पर मुग्ध होने वाले तो इस निष्कर्ष से कैसे सहमत हो सकते हैं ? कादम्बरी के विंध्याटवी, शावर तथा जलाशय के वर्णन पर मुग्ध होकर—

श्लेषे केचन शब्द गुम्फ विषये के चिद्रसे चापरेऽ
लंकारे कतिचित्सदर्थ विषये चान्ये कथावर्णने।
आसर्वत्र गंभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
संचारी कविकुम्भिकुम्भ भिदुरो वाणस्तुपञ्चाननः॥

कहने वाला समाज इस बात को कैसे स्वीकार कर सकता है ?

लेसिंग का सिद्धान्त है कि यह बात नहीं कि चित्रकार एक गतिशील जीव का चित्रण कर ही नहीं सकता और उसी तरह यह भी सत्य नहीं कि कवि स्थिर वर्णनात्मक चित्रण का उपयोग कर ही नहीं सकता है ! बात इतनी ही होगी कि इनको दूसरे साधनों का प्रयोग करना पड़ेगा, दोनों को अभिधेयात्मकता से अधिक व्यंगात्मकता का सहारा लेना पड़ेगा। चित्र-कला में गति तथा क्रिया की विषयात्मक प्रतीति के लिये वस्तु के स्थिर स्वरूप को इस तरह से रखना होगा कि उसमें से गति की ध्वनि निकलती हो। कवि को भी वस्तु के स्थिर धर्मों को कार्यों के बीच इस ढंग से रख कर दिखाना होगा कि वे व्यंग्य होकर सामने आ सकें।

लेसिंग के मतानुसार गति या क्रिया का चित्रण चित्र-कला में गौण रूप से ही हो सकता है। 'वस्तु की स्थिति देश में ही नहीं होती, अपितु काल में

भी होती है। उसके अस्तित्व की क्रिया तो जारी रहती है और अपने अस्तित्व को वह प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न रूप धारण करने योग्य रखती है। ये क्षण-स्थायी विविध सम्बन्ध व रूप अपनी पूर्वावस्था के फल और भविष्य के कारण हो सकते हैं। अतः वह (वस्तु) प्रकारांतर से का ंका केन्द्र होती जाती है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि चित्रकला भी क्रिया का चित्रण कर सकती है पर शरीर के सहारे व्यंग्य बनाकर! उसी तरह क्रिया या गति किसी वस्तु से सम्बद्ध हो कर ही अपना जीवन धारण कर सकती है, परन्तु क्रिया के द्वारा ही। अतः चित्रकार को एक अभिव्यंजक क्षण चुन लेना पड़ता है और कवि को एक पार-दर्शक वस्तु-धर्म को।

इसी निर्वाचन को स्व० रामचन्द्र शुक्ल ने व्यापार-संशोधन या क्रिया-संशोधन कहा है। मान लीजिये कि किसी कवि को किसी की दैन्य अथवा क्रोधित मूर्त्ति का चित्रण करना है। दैन्य में सहायता के लिये प्रार्थना करना, दीन-वचन का उच्चारण करना, चिरौरी करना, रोना, पेट दिखलाना, फटे वस्त्रों तथा भूखे बच्चों की ओर निर्देश करना—कितने व्यापार आ सकते हैं। पर कवि इनमें से एक को चुन लेगा जिसमें भाव की अभिव्यंजना-शक्ति घनीभूत रूप में वर्तमान है। गुसाईं जी इतना ही कहेंगे 'जानत हौं चार फल चार ही चमक को।" उसी तरह क्रोधावेश में आये मनुष्य के अनेक व्यापारों से एक को ही लेकर वह अपने ध्येय की पूर्ति कर लेगा। उसी तरह कवि और चित्रकारों को भी संशोधन कला में दक्ष होना चाहिये। सूर और तुलसी तथा जितने भी उच्च कोटि के साहित्यिक कहीं भी हो गये हैं, वे सब इस व्यापार-संशोधन-कला में पारंगत थे!

अब प्रश्न यह होता है कि चित्रकार किसी एक क्षण के निर्वाचन में किस बात का ध्यान रखे। इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि वह क्षण ऐसा हो कि उसमें अपनी ओर दर्शकों को आकर्षित करने की क्षमता हो। 'उसी सुनाव को उपयुक्त कहा जा सकता है जो हमारी कल्पना को उन्मुक्त-क्षेत्र प्रदान करे। जितना ही अधिक हम ध्यानपूर्वक देखेंगे, उतना ही हमारी कल्पना उसमें जोड़ती रहेगी; जितनी अधिक हमारी कल्पना जोड़ती जायेगी, उतना ही उस वस्तु को देखने में हमारा विश्वास दृढ़ होता रहेगा। हमारे मनोवेग की प्रक्रिया में ऐसी क्षमता सब से कम उस क्षण में है जिस समय हमारे भाव पराकाष्ठा की सीमा में रहते हैं, क्योंकि उसके आगे तो कुछ रह ही नहीं जाता है। आंखों के सामने Extreme के प्रदर्शन से कल्पना के पंख मानो कतर लिए जाते हैं, ऐंद्रियता के क्षेत्र से बाहर उसे उड़ने के लिए स्थान नहीं

रहता और कल्पना को बाध्य होकर कमजोर दृश्यों के तांने-बाने में उलझे रहना पड़ता है......यदि लाकून केवल आह भरता दिखलाया जाय तो कल्पना उसे एक दारुण चीत्कार के रूप में बढ़ा कर देख सकती है। परन्तु यदि उसे चीत्कार करते हुए ही चित्रित कर दिया जाय तो कल्पना उससे एक पग भी न आगे जा सकती है न पीछे। यदि कला ऐसा करती है तो उसे एक ऐसी अवस्था का सामना करना पड़ता है जो जितनी ही अधिक टिकाऊ होगी, वह उतनी अधिक नीरस भी होती जाती है। कल्पना उसे या तो केवल आह भरता देख सकेगी या मृत-रूप में ही !'

चित्र-कला या मूर्त्ति-कला में कार्य-व्यापार, हलचल, क्रियायें तथा आन्दोलन में संलग्न वस्तु का चित्रण हो सकता है। सर्पों से परिवेष्ठित लाकून के चित्र से अधिक कौन-सी क्रिया-तत्पर वस्तु हो सकती है ? पर एक बात अवश्य है कि वह एक ही क्रियाशील क्षण में जकड़ी हुई वस्तु का चित्रण होगा। मेरे सामने एक मुगलकालीन चित्र है 'आया पानी' कोई नारी अपनी वाटिका में गई है, तब तक मेघ बरसने लगते हैं और वह बेचारी घर की ओर भाग रही है। चित्र में वायु के विपरीप गति में भागने से उसके अंचल फहरा रहे हैं, पैरों में गति है, भुजाओं में स्फूर्ति है ! ऐसे चित्रों मे गति और स्फूर्ति का व्यंग्य होना चित्र की स्पष्टता के लिए तो आवश्यक है ही, पर चित्रकार को इस नियम का पालन करना ही पड़ता है कि चित्र की सुन्दरता में किसी तरह की बाधा न आये। बहुत-सी ऐसी मुद्रायें हैं, शारीरिक चेष्टायें हैं, शारीरिकि आकुंचन व प्रसारण हैं, जो दौड़ते हुये शरीर के लिए सही हो सकते हैं पर एक क्षण मे जकड़ी हुई देह के लिये ठीक नहीं हो सकते। यदि उनकी अवस्थिति का प्रदर्शन जकड़ी हुई देह में किया जाये, तो चित्र वीभत्स हो उठेगा। अतः उनका समावेश नहीं हो—यही चित्रकला की दृष्टि से श्रेयकर है। चित्रकला में कल्पना को अपनी उड़ान के लिए विशाल क्षेत्र मिलते हैं। बात केवल इतनी ही-सी है कि वहाँ कोई ऐसी रेखा नहीं जा सकती जिससे सौंदर्य की हानि होती है। उसी तरह Blake के चित्र Reunion of soul and body (आत्मा तथा शरीर का पुनर्मिलन) में अणु २ से गति की ध्वनि निकल रही है पर वहाँ सौंदर्य पर किसी तरह की आँच नहीं आने दी गई है। एक आलोचक के शब्दों में—'The painting admits only of that one chosen miniute on which the eye can linger, and satisfy without sating the imagination'. अर्थात चित्र-कला उसी एक क्षण को अपना उपजीव्य बना सकती है,

जिसको आंखें बार-बार देखना चाहें और जिसके द्वारा बिना क्षति किये ही कल्पना को तृप्ति मिल सके।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने वास्तविक और विशुद्ध रूप में केवल वर्णनात्मक कविता-क्षेत्र में स्थान नहीं पा सकती। कला केवल कलाकार की मानसिक-तृप्ति का साधन-मात्र ही नहीं, वह अपने में पूर्ण नहीं है, उसकी सार्थकता तभी है जब कि उसमें प्रेषणीयता हो। वह प्रभावोत्पादक बनकर ही सार्थक होती है। पर यह प्रभाव किसी वस्तु के विस्तृत वर्णन से काव्य में उत्पन्न नहीं किया जा सकता। हां, वर्णनात्मकता चित्रकला में स्थान पा सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि भाषा में वर्णन-शक्ति नहीं। शक्ति तो इसमें है, भाषा को मनुष्य चाहे जिस काम में ले सकता है, पर लेसिंग का कहना है कि 1 refuse to allow this quality to language as the medium of poetry, because such verbal descriptions are entirely devoid of illusion which consists so essential an element in poetry; and 1 say that they must be devoid of this illusion, because the body is inconsistent with the consecutive element of the language' अर्थात् मैं भाषा के इस धर्म को काव्य-माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करता, क्योंकि ऐसे शाब्दिक-वर्णनों में उस भ्रांति का सर्वथा अभाव है जो कविता की आवश्यक वस्तु है। मैं यह जोर देकर कहूँगा कि ऐसे काव्य में इस प्रभाव का सर्वथा अभाव ही रहेगा, क्योंकि स्थूल-शरीर के स्थिति-स्थापक तत्व का भाषा के नैरंतर्यत्व के साथ कभी भी मेल नहीं बैठ सकता।' यदि वर्णनात्मकता को कविता का रूप धारण करना है तो ( It must express extension in space by duration in time) इसे देश के विस्तार के समय की स्थिति के द्वारा दिखलाना होगा। होमर ने अचिलिज की ढाल का वर्णन किया है, पर उस ढाल की बाहरी रूप-रेखा और उसके ब्योरेवार वर्णन करने में ही वह संलग्न नहीं हो गया है, पर उसने इस बात का वर्णन किया है कि किन २ उपकरणों को लेकर और किन-किन प्रक्रियाओं से उसका निर्माण हुआ है और युद्ध के अवसर पर उसकी टंकार शत्रुओं के दिल में किस तरह तहलका उत्पन्न कर देती है। यदि कुछ अंग्रेजी-शब्दों का आश्रय लिया जाय तो हम यों कह सकते हैं कि होमर ने अपनी वर्ण्य-वस्तु के स्थिति-स्थापक (co-existent) तत्व को नैरंतर्य (consecutive) तत्व में परिणत कर दिया है और इस कला के द्वारा एक

शरीर का ब्योरा उपस्थित करने के बदले उसने एक सजीव मूर्त्ति का चित्र हमारे सामने रखा है। उसी तरह जब हेलन ट्रॉजन के वयोवृद्ध सज्जनों के सामने आती है तो वह उस नारी के अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य वर्णन में नहीं लग जाता क्योंकि वह जानता है कि उससे उसका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता।

हिन्दी और संस्कृत-साहित्य से तो अनेकों उदाहरण लेसिंग के पक्ष में दिये जा सकते हैं। उदाहारणार्थ गोस्वामी तुलसीदास को सीता की सुन्दरता का वर्णन करना है। वे चाहते तो नख-शिख वर्णन में लग जाते, पर उन्हें उनकी काव्योचित सूझ ने ऐसा नहीं करने दिया। उन्होंने कहा—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परमरूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु, मंदरु सिंगारू। मथइ पानि पंकज निज मारू।
एहि विधि उपजई लच्छि, जब सुन्दरता-सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कवि, कहहि सीय समतूल॥

इसकी तुलना आप रीतिकाल के सैकड़ों नख-शिख-वर्णनों से कीजिये। आपको स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि कवि में क्या है? एक दूसरा काव्य-चित्र देखिये। राम सीता के साथ वन से जा रहे हैं। चक्रवर्ती राम की पत्नी आज कंटकाकीर्ण मार्ग के कुश-कांटों से क्षत-विक्षत होकर दीनावस्था में हैं। राम की अवस्था क्या होगी, राम पर क्या बीतती होगी—इसका वर्णन है:—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्

अर्थात शिरीष के पुष्प की तरह कोमल सीता नगर से निकल कर दो-चार पग धरती है, फिर थक कर संकोच से पूछती है कि अब कितनी दूर चलना है? इन बातों को सुनकर राम की आँखों से प्रथम बार आंसू गिरे। मैं पूछता हूँ कि राम के अनुभावों और शारीरिक चेष्टाओं का लम्बा वर्णन करके भी क्या कवि राम की दीन दशा का ऐसा प्रभविष्णु चित्रण करने में सफल हो सकता था? यदि किसी भी साहित्य के तथाकथित वर्णनात्मक भाग को देखा जाय तो पता चलेगा जिस अंश में वह विशुद्ध वर्णनात्मक नहीं है, उसी अंश में उसे सफलता मिली है और जहाँ साहित्यकार वर्णन की ओर लपका है, वह नीरस और आकर्षण-हीन होगया है।

काव्य-कला अपनी सीमाओं के कारण शारीरिक सौंदर्य का ब्योरेवार

वर्णन करने से लाचार है। पर शारीरिक सौंदर्य का एक पहलू ऐसा है जो चित्रकार की पकड़ में नहीं आ सकता और जो कवि के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सौंदर्य के इस पहलू को लेसिंग ने Charm कहा है। इस लावण्य (Charm) का प्रदर्शन कवि अच्छी तरह से कर सकता है। 'Charm is beauty in motion, and for that reason—is best suitable to the painter than to the poet. The painter can only suggest movement; in reality his figures are motionless. It follows, therefore, that with him charm degenerates into 'Caricature'. But in poetry it remains what it is 'a transitory beauty' which we wish to see again and again.' अर्थात् 'गतिशील सौंदर्य ही लावण्य है। इसीलिए यह कवि के लिये जितना उपयोगी है, उतना चित्रकार के लिये नहीं। चित्रकार तो गति का व्यंगात्मक चित्रण ही कर सकता है, वास्तव में उसके चित्र गतिहीन होते हैं। अतः चित्रकार के लिये वह 'विद्रूप' हो उठता है। पर कविता में उसके विशुद्ध रूप की—ऐसे गत्यात्मक-सौंदर्य की,—जिसकी ओर बार २ देखने की लालसा बनी रहती है, रक्षा होती है।

उक्त विवेचन से लेसिंग ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि काव्य का क्षेत्र कितना व्यापक है, और चित्र कला व स्थापत्य कला का क्षेत्र अपेक्षाकृत कितना सीमित है। प्रश्न यह होता है कि यदि यह निश्चित हो गया कि लाकून नाम की मूर्ति में कलाकार ने कवि का अनुकरण किया है तब भी ऐसा क्यों होता है कि कलाकार के लिए हमारे हृदय में श्रद्धा की भावना कम नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि कलाकार में कारीगरी, हस्त-कौशल, टैकनीक आदि भावों की मौलिकता से अधिक कठिन जान पड़ते हैं, पर काव्य में भावों की मौलिकता ही. कठिन है व उसकी अपेक्षाकृत अभिव्यंजनात्मकता सहज मालूम पड़ती है। मनुष्य स्वभावतः कठिनता की ओर झुकता है। जहाँ वह मानव-परिश्रम की बूंदों को झलकता हुआ पाता है, वहाँ वह आदर से झुकता है। यही कारण है कि हम हाथ की कारीगरी का आदर मशीन से बनी वस्तुओं से अधिक करते हैं। कला में आत्मा का आभास है, जिसका दर्शन यंत्र-निर्मित पदार्थों में नहीं होता। हम चित्रों पर मुग्ध होते तो हैं, पर अधिक उस चित्र में प्रदर्शित हस्त-कौशल, कूची की बारीकी तथा रंग प्रकाश व छाया के सम्मेलन की कुशलता पर !!

# परसी बिशी शैली

वर्ड्सवर्थ, कालरिज तथा शेली—ये तीनों नाम १६ वीं शताब्दि के आंग्ल काव्य गगन मण्डल में देदीप्यमान नक्षत्रों की तरह विराजमान हैं, जिनकी आभा को काल का सम्पूर्ण अन्धकार भी स्पर्श नहीं कर पाता। कठिन नियम और रूढ़ियों की लौह-शृंखला तथा व्यर्थ के बाह्याडम्बर के अत्याचार से पिसी आने वाली कविता को स्वतन्त्रता मिली, तो इन्हीं कवियों के प्रयत्नों और प्रतिभा के फल-स्वरूप। इन्हीं लोगों ने बन्दिनी कविता को कारागार से मुक्ति दिलाई और उसे स्वाभाविक राह पर ला खड़ा कर स्वाभाविक रूप से विकसित होने के लिये पथ प्रशस्त किया। हमारे यहाँ के रीतिकाल के कवियों की ही तरह ये कवि प्रथमतः कवि थे। आचार्यवाद में। इनकी आत्मा एक रचनात्मक स्रष्टा की थी और इन्हें अपने काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने और उनके आलोक में अपनी कविता की विशेषताओं को देखने और दिखाने की प्रवृत्ति नहीं थी पर युग ऐसा था कि बाध्य होकर इन लोगों का इस ओर प्रवृत होना पड़ा " लोक रुचि एक भिन्न ही मार्ग पर जा रही थी। लोग एक दूसरे ही प्रकार की कविता पढ़ने के अभ्यस्त थे। लोक रुचि की दशा मोड़नी थी। लोगों के बिगड़े अभ्यास को परिमार्जित करना था। यह क्योंकर सम्भव हो?, इसके लिये इन कवियों को कुछ कहने सुनने की आवश्यकता पड़ी। कालरिज और वर्ड्सवर्थ के सम्मिलित प्रयत्न से 'लिरिकल बैलेड्स के नाम से जिन नूतन कविताओं का संग्रह निकला था और उसके विरोध में जो आन्धी उठ खड़ी हुई थी, उसके वेग को कम करने के लिये वर्ड्सवर्थ को भूमिका में अपनी नूतन सरल काव्य शैली को बहुत ही प्रभावोत्पादक ढंग से समर्थन करते हुये स्पष्ट करना पड़ा है। कालरिज ने जो आगे चल कर 'बायोग्राफिया लिटरेरिया में काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वह इतना गम्भीर तथा पाण्डित्य पूर्ण है कि आधुनिक युग के सर्व श्रेष्ठ कवि और समर्थ आलोचक टी. एस. इलियट को उन्हें अंग्रेजी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ आलोचक मानना पड़ा है।

शैली के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी पुस्तक 'डेफरेंन्स आफ़ पोइट्री' में संग्रहीत हैं। १८२० में टामस लव पिकाक की पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसका नाम था 'दि फोर एजेज़ आफ पोइट्री, ( कविता के चार युग )। उस पुस्तक में उन्होंने कविता की उत्पत्ति और उसके विकास को बताते हुये यह दिखाने का प्रयत्न किया कि कविता का युग समाप्त हो रहा है और ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जायगा तथा लोग एक संगठित और व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने लगेंगे, त्यों-त्यों कविता का ह्रास होता जायगा। ज्ञान और विज्ञान की क्रमिक उन्नति इस बात की स्पष्ट सूचना है कि कविता का जनाजा शीघ्र ही निकलने वाला है। पिकाक ने अपनी पुस्तिका में विश्व कविता का सिंहावलोकन करते हुए बतलाया था कि ध्यान पूर्वक देखने पर पता चलता है कि कविता के पूरे इतिहास को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—लौह युग, सुवर्ण-युग, रजतयुग और पीतल युग। कविता की उत्पत्ति उस समय हुई थी, जब कि मानव जाति बर्बर थी, उसमें सभ्यता का नाम भी न था। शिकार करना, प्रतिद्वन्द्विता में रमे रहना, लोगों का एक मात्र व्यवसाय था और दल के सरदार के साहसिक कार्य और उनकी वीरता की गाथाओं का गान मात्र ही उनके जीवन की ध्येय था। इस निरन्तर चलते रहने वाली मार-पीट और लड़ाई-झगड़े में देवी-देवता सम्मिलित होकर इन्हें एक विचित्र महत्ता, दिलचस्पी और गौरव से मण्डित कर दिया करते थे। यही कारण है कि किसी साहित्य की कविता को देखें, तो आप उसे आरम्भ में युद्ध की विजय-घोषणा करने वाली और नेताओं की विरुदावली गाने वाली वीर गाथाओं के ही रूप में पायेंगे। कविता के इस उत्पत्तिकाल को पिकाक ने 'आयरन एज' ( लौहयुग ) कहा है। यह मानव जाति के शैशव की वस्तु है, जो मानसिक उद्बोधन में सहायक होती है, लौह युग के बहुत से बिखरे वीर गीतों को एकत्र करने से उनकी एक शृंखला बद्ध राशि एकत्र की गई और आगे चल कर उनका विकास प्रबन्ध काव्यों के रूप में हुआ। ये रचनायें बड़ी ही उच्च और सचेष्ट कला कृतियाँ थीं। यह कविता का स्वर्णकाल था, और इसमें होमर और शेक्सपियर जैसे कवियों की गणना हो सकती है। रजत युग के कवियों में विर्जिल और ड्राइडन का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के निर्जीव अनुकरण में आयु व्यतीत की। पीतल युग के कवियों ने तो बड़ा ही प्रतिगामी पद उठाया। उन्होंने एक झटके में रजतयुग की विद्वता और बाह्याडंबरको उखाड़ फेंका, 'प्रकृति की ओर लौट चलो, की

पुकार लगाई और लौहयुग की भावभंगी को अपना कर कविता के 'बचकानीपन' पर आ उतरे।

## कविता का स्वरूप और प्रेरणा

पिकाक ने यहाँ कविता के समर्थकों के सामने दो प्रश्न रक्खे। और ये प्रश्न इस प्रकार रक्खे गये, मानो प्रश्न कर्ता आश्वस्त हो कि उनका उत्तर तो मिल ही नहीं सकता। प्रथम प्रश्न तो यह था कि कविता को पुनः लौहयुग के बचपन की अवस्था में ले आने में क्या औचित्य है? माना कि शैशवावस्था में मानव जाति ने कविता की खड़खड़ाहट से थोड़ा सा मनोरंजन किया था; पर प्रौढ़ावस्था में लड़कपन के खिलौने से चिपटे रहना क्या मानसिक दिवालियापन नहीं? यह तो ऐसा ही व्यर्थ है, जैसे कि कोई प्रौढ़ व्यक्ति अपने मसूड़ों में भस्मी लगाने का हठ करे तथा चाँदी की घंटियों की मधुर ध्वनि सुनकर नींद बुलाने का उपक्रम करे। पिकाक के शब्दों में—

"Poetry was the mental rattle that awakened the attention of the intilled in the infancy of the civil society, dut for the maturity of mind to make a serious business of the playthings of child hood is as absurd as for a full grown man as to rub his gnms with coral and cry to be charmed to sleep by the jingle of silver bells."

दूसरा प्रश्न यह था कि कविता की उपयोगिता क्या है? विज्ञान के आविष्कार और उद्योग की कार्यवाहियाँ तो प्रत्यक्ष और व्यावहारिक रूप में हमारे जीवन में सहायता देती हैं। उनसे हमारे सुख और समृद्धि में वृद्धि होती है; पर कविता के ये काल्पनिक हवाई महल क्या काम आते हैं? अत: कवियों ने अब तक अपने माथे पर जो सामाजिक नेतृत्व का मुकुट बांध रक्खा है, उसे उतार कर वैज्ञानिकों और संशाविष्कारकों को दे देना चाहिये।

इन्हीं आक्षेपों के निराकरण के प्रसंग में शेली को कविता के स्वरूप, उसको उत्पन्न करने वाली प्रेरणाओं तथा उससे संबद्ध विविध मानसिक व्यापारों की व्याख्या इत्यादि प्रश्नों की छानबीन करनी पड़ी है और उसने कविता के विविध पहलुओं पर विचार कर पिकाक महोदय के आक्षेपों की निस्सारता को प्रमाणित कर दिया है। इस प्रसंग में स्वभावतः प्रश्न उपस्थित होता है। कि कविता क्या है? भारतीय साहित्य-शास्त्रों के जिज्ञासुओं से यह बात छिपी न होगी कि केवल इसी प्रश्न को लेकर न जाने कितने ही सम्प्रदाय स्थापित हो गये हैं—रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि

सम्प्रदाय इत्यादि। अतः यही प्रश्न शेली के सामने आया। शेली ने कविता की परिभाषा देते हुये कहा कि 'कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है और 'यह अभिव्यक्ति मनुष्य की जन्म जात प्रवृति है।'

कविता के रूप पर विचार करते हुये हमें कल्पना और विवेक इन दो शब्दों के तारतम्य को स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा। कल्पना से कवित्व जाग्रत होता है, जो कलाकृति के रूप में प्रकट होता है और विवेक से वैज्ञानिक नियम और सिद्धान्तों की रचना होती है। विवेक मस्तिष्क की वह शक्ति है जो प्रमेय वस्तु का विश्लेषण करती है, टुकड़े-टुकड़े करके देखती है, यह पता लगाती है कि उनके अन्दर कौन सी शक्तियां काम कर रही हैं, उनका संचालन किन नियमों के अनुसार होता है। इसके पश्चात् इन सारी प्रतिक्रियाओं को एक साधारण वस्तूत्पाद्य के रूप में हमारे सामने रख देती है—अर्थात् विज्ञान विशेष से होकर साधारणत्व की ओर अग्रसर होता है; पर कल्पना की गति ठीक इसके विपरीत होती है। वह साधारण से विशेष की ओर बढ़ती है। कल्पना अमूर्त व निर्विकल्प भावनाओं को पकड़ती है और उन्हें मूर्त व साकार बना देती है। विवेक और कल्पना की प्रारम्भ में समता रहती है अर्थात् दोनों में साधारणत्व को ढूंढ़ा जाता है; पर बुद्धि वहीं विश्रांत हो जाती है, आगे नहीं बढ़ती। किन्तु कल्पना उस साधारणत्व को फिर से विशेष में डालकर उसके स्वरूप को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करती है, और वह इस ढंग से करती है कि विशेष की स्थिति वहाँ गौण से जाती है और आत्मा को साधारण से संबन्ध स्थापित कर लेने में कठिनाई नहीं होती। इसलिये कहा जाता है कि ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि प्रत्येक कला का पूर्वरूप विज्ञानमय है और प्रत्येक विज्ञान का पूर्वरूप कलामय।

## विवेक और कल्पना

प्रकृति में दो प्रकार की शक्तियां काम करती सी दिखलाई पड़ती हैं—ध्वंसात्मक और रचनात्मक, केन्द्रापगामी और केन्द्रानुगामी, विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक। एक विवेक है, दूसरी कल्पना। एक तोड़ फोड़ करती है और दूसरी तोड़ती भी है तो केवल जोड़ने के लिये ही; एक प्रमेय वस्तु के रूप और रंग को ग्रहण करता है, तो दूसरा उस रूप रंग द्वारा व्यंजित भाव को; एक घाव को चीर फाड़ करने वाला चिकित्सालय का निर्मम डाक्टर है, तो दूसरी हृदय स्नेह की दुग्ध धारा से पीड़ा को आर्द्र करने वाली माता; एक विवेक है, दूसरी कल्पना, एक वैज्ञानिक है, दूसरा कवि। आत्मा जब प्रकृत वस्तु में कल्पना के माध्यम से अपने को डाल कर अपनी सत्ता का निश्चय

करना चाहती है, जब वह साधारण को विशेष रूप में देखने का उपक्रम करती है, अमूर्त भावों को मूर्त रूप देना चाहती है, 'नश्वर स्वर' में 'अनश्वर गीत' गाने लगती है, तो कला का अवतार होता है। और चूंकि आत्मा का यह शाश्वत धर्म है, अतः यह मानव का सहजात धर्म है। शेली ने इसे 'मानव प्रकृति के साथ एकरसता' कहा है।

इस कल्पना के व्यापार का सच्चा और प्रकट स्वरूप कविता में दिखलाई पड़ता है। जीवन के किसी महत्तम क्षण में एक संवेदनशील प्राणी ने जिसे कवि कहते हैं किसी ज्योति की झलक देखी, मानो किसी अज्ञात लोक की वास्तविकता ने उसके सामने अपना हृदय खोल कर रख दिया हो। इसकी कोई विशिष्ट रूप रेखा नहीं, आकार प्रकार नहीं, यह निर्गुण और निराकार है। कल्पना को मानो इससे सन्तोष नहीं। वह चुपके से इसके पास पहुँचती है, एक जीवनी शक्ति को लेकर उसमें प्रवेश करती है और तत् सम्बन्धी भावनाओं विविध के क्षेत्र में इसका विस्तार करती है। ये विविध भावनायें मिलकर एक व्यापक भावना की अभिव्यक्ति में सहायक होती हैं। इस तरह भावों का एक चक्र स्थापित होता है, जो कविता का रूप धारण कर लेता है। इस बात को समझने के लिये महादेवी जी की एक कविता लीजिये।

मैं सजग चिर साधना ले।
सजग प्रहरी से निरन्तर
जागते अलि रोम निर्भर
निमिष के बुदबुद मिटा कर
एक रस है समय सागर
हो गई आराध्य मय मैं विरह की आराधना ले।
मूंद पलकों में अचंचल
नयन का जादू भरा तिल
दे रही हूँ अलख अविकल
को सजीला रंग तिल तिल।
आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले।
विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
दुःख सुख में कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा
मधुर मुझ को हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।

कवियित्री की आत्मा जीवन के विशिष्ट दिव्य क्षणों में या यों कहिये कि अपनी उन्मुक्तावस्था में सत् और चिन्मय तत्व के साथ तादात्म्य की अनुभूति से अनुप्राणित हो उठी। उसे समझ में आया कि अब तक मैं कितनी भूल में थी। विरह, मिलन, सुख, दुख, बन्धन मुक्ति ये सब पदार्थ तो इसलिये पारस्परिक विरोधी दीखते हैं कि हमारी द्वैत बुद्धि संसार को हमें अपने प्रिय से वियुक्त होकर देखने के लिये प्रेरित करती है। यदि हम दुनिया को और इसकी सारी हलचल को अपने प्रिय से मिला कर देखें तो कहाँ दुख और सुख, कहां ससीम और असीम। सारा विश्व एक आनन्दोल्लास से थिरकता सा दिखलाई पड़ेगा। यह सत्य कुछ अस्पष्ट सा था, हवा में तैरता सा। आत्मा उसका अनुभव करती तो थी पर मानो इतने भर से उसे सन्तोष न था। वह तो इसे किसी ठोस प्रमेय पदार्थ में डाल कर निश्चित् कर लेना चाहती थी। बस उसने कल्पना को आज्ञा दी। कल्पना ने उसमें जीवनी शक्ति की तरह प्रवेश किया, इसके धुक धुक करते प्राणों में जीवनी शक्ति को संचार किया। इतना ही नहीं 'प्रहरी' से 'अलि-रोम' 'निमिष का बुद् बुद्' और 'समय का सागर' 'नयन के जादू' और 'अचंचल पलरों में भर' 'विरह के युग' और मिलन के पल इत्यादि को सम्बद्ध भावनाओं का सहारा देकर उन्हें सविकल्पक बनाया और इन्हें कुछ इस तरह सजाया कि वे सब मिल कर सामूहिक रूप में 'मधुर मुस्का हो गये सब, मधुर प्रिय की भावनाओं' को व्यंजित करने में तत्पर दीख पड़ते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मौलिक सत् पदार्थ जिसे आत्मा ने अपनी उन्मुक्तावस्था में देखी थी उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति इसी रूप में हो सकती थी जिस रूप में वह काव्य शरीर धारण कर खड़ी है।

इसलिये शेली ने कहा है कि कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। यह निश्चय हो जाने पर कि कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है, यह प्रश्न सामने आता है कि इस अभिव्यक्ति का उद्देश्य क्या है? आत्मा में जो अभिव्यक्ति की एक प्रेरणा होती है और जिसके लिये वह कल्पना को आज्ञा देती है और कल्पना जिसके लिये आकाश पाताल एक कर देती है उससे किस अर्थ की सिद्धि होती है? प्रयोजन के बिना तो मूर्ख भी किसी कार्य के लिये अग्रसर नहीं होता। इसलिये इस अभिव्यक्ति का भी कुछ न कुछ उद्देश्य होना ही चाहिये।

एक बात का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को हुआ होगा जब किसी वन में वायु वेग से बहने लगती है और किसी वृक्ष से टकरा कर पर्वत की कन्दराओं में प्रवेश करती हुई चलती है, तो एक विचित्र सुरीली या मृदु गंभीर संगीत

की ध्वनि गूंज उठती है। यदि वायु का वेग स्थिर रहा, उसमें किसी प्रकार की तीव्रता या मंदता नहीं आई, तो एक ही प्रकार की संगीत ध्वनि सदा सुनाई पड़ती है। पर वही ध्वनि जब चेतन मानव के कर्ण कुहरों में प्रवेश करती है, तो वह तदनुरूप और समान वायु के प्रकंपनों की सृष्टि भर करके ही नहीं रह जाती। वह उसकी आत्मा में प्रस्तुत संस्कार जाल को झंकृत कर देती है, उसके हृदय में एक शुद्ध, निर्विकल्प तथा स्वयमानन्द-स्वरूप आदर्श, जो उसके हृदय के किसी अज्ञात प्रदेश में प्रसुप्त पड़ा रहता है, उसका संकेत करती है और उसकी कल्पना एक ऐसे वाद्य यन्त्र के सृजन में तत्पर हो जाती है या ऐसी क्रियाओं में उसे संलग्न कर देती है, जिसके द्वारा इस आदर्श को अधिक से अधिक शुद्ध रूप में प्राप्त कर सके। उसके हृदय पर से एक पर्दा सा उठता मालूम होता है और वह उस परमानन्द के समीप आता सा दिखलाई पड़ने लगता है। वह अपने हृदय की तह में महसूस करने लगता है, मानो जिस आनन्द की हमें उपलब्धि हो रही है, वह उस ब्रह्मानन्दसहोदर की क्षीण छाया मात्र है। संसार में इन्द्रियों के सहारे जो वस्तु संवेदना के रूप में हमें प्राप्त होती है, उसमें एक ऐसी व्यवस्था अवश्य है जो दर्शकों, श्रोताओं तथा पाठकों को अधिक से अधिक आनन्द की सृष्टि करा सकती है। शेली के कुछ शब्दों के सहारे कहें, तो इसी बात को यों कह सकते हैं कि सांसारिक वस्तुओं को देख कर मनुष्य को एक खास क्रम और लय में विश्वास उत्पन्न हो जाता है। जिसमें और किसी चीज की अपेक्षा विशुद्ध आनन्द देने की सामर्थ्य है। कालीदास ने भी

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि"

यहाँ पर भी इसके द्वारा शेली की बातों का समर्थन ही होता है।

अर्थात् सुन्दर पदार्थों को देख कर अथवा मधुर ध्वनि को सुन सुख में मग्न व्यक्तियों के चित्त में भी एक उत्सुकता जाग उठती है इसका कारण यही है कि उसकी अज्ञात चेतना में स्थित 'भावस्थिर जननान्तर सौहृद' की स्मृति जाग उठती है।

अतः मनुष्य को अपनी वर्तमान स्थिति से कभी भी संतोष नहीं होता, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ उसे एक ऐसी अवस्था की ओर प्रेरित करती रहती हैं, जिस ओर प्रकृति उसकी उच्चतम व्यवस्था को लक्ष्य करती है। यदि प्रकृति के

व्यापारों और उसकी हलचलों पर जरा सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि स्वयं प्रकृति में सदा ऊंची अवस्था की ओर और 'तर' से 'तम' अवस्था तक पहुँचने की एक अदम्य प्रेरणा है, मानों एक फुटबाल का खिलाड़ी हो, जो सदा गोल की ओर बढ़ता जाता हो। और इस लक्ष्य में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रकृति सदा मानवीय चेतन मस्तिष्क की सहायता ढूँढती रहती है।

## प्रकृति, कला और कलाकार

मनुष्य प्रकृति के इस उद्देश्य को समझता है और वह उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता देता है। वह मानो कहता है, प्रकृति में, माना कि कहीं पूर्णता नहीं दिखाई पड़ती है, दुःख के साथ ही सुख है, जीवन के साथ ही मृत्यु है, प्रेम के साथ ही घृणा है। पर यह भी सत्य है कि प्रत्येक वस्तु में कोई न कोई आनन्दायक भावात्मक स्वरूप अन्तर्निहित रहता है, भले ही वह विरोध तत्वों के साथ लिपटे रहने के कारण पूर्ण रूप से अपने सारे तेज को प्रकट न कर पाता हो। नमक को खान मे पड़ जाने से गुड़ की मिठास का पूर्ण रूप से आस्वादन न भी होता हो, पर मिठास तो है। इसकी ध्वनि तो प्रत्येक वस्तु से होती है। मनुष्य के हृदय में बैठा कवि यह कहता है कि हम इसी आदर्श मिठास को नमक के समुद्र से छान कर विश्व में वितरित करेंगे और इस कार्य में सफल होने के लिए हमारी कल्पना अपनी जान पर खेल कर मंदराचल पर्वत को उठा लायगी, शेष नाग को रज्जु बनायगी, देवताओं को बुला लायगी कि चलो, मैं समुद्र मंथन कर अमृत निकालने जा रही हूँ, आप इस मंथन में सहायता दो और अमृत की बूंदों को बाँट कर लोगों को अमर करने का प्रयत्न करो।

इसीलिये कहा जाता है कि कला (कविता को ही फिलहाल कला के अन्दर मानें) प्रकृति के ऊपर संशोधन है। वास्तविक जगत में हम जिसको अस्पष्ट और अपूर्ण रूप में देखते हैं, उसे पूर्ण व स्पष्ट रूप में दिखाना ही कलाकार का कार्य है। मनुष्य कोयल को गाते हुये सुनता है और तुरन्त ही कोयल की तरह गाने का प्रयत्न करता है। वह मोर को नाचते हुये देखता है और उसका अनुकरण करने लगता है। पर वह इतना मात्र ही नहीं करता। वह प्रयत्न करता है कि वह कोयल से भी अच्छा गाये तथा मोर से भी अच्छा थिरक सके। यही पशु व मनुष्य में भेद है। पशु भी अनुकरण करते हैं; पर वे अनुकरण के आगे नहीं बढ़ सकते। मनुष्य आगे बढ़कर उसे कुछ उन्नतावस्था में लाने का यत्न करता है। वह जानता है कि वह ऐसा

करने में समर्थ है। वह अपनी प्रतीत्यात्मक अनुभूतियों के साथ अन्य अनुभूतियों को भी संबद्ध रूप में देखता है। प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी विशिष्टता होती है जो अन्य वस्तु के विरोध में टकराती है, अपने से मिलने नहीं देती। मनुष्य इन विशिष्टताओं को हटाकर उनके साधारण रूप को लेकर इस प्रतीति के साथ सम्बद्ध होकर एक ऐसी अवस्था की कल्पना करता है, जो प्रकृत अवस्था से उच्चतर होती है और प्रकृति की आदर्श व्यवस्था ( Order and Rhythm ) का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। कवि इसी भाव को प्रकाशित करना चाहता है और इसीलिये सविकल्पक पदार्थ का आश्रय लेता है। वह इस भाव के प्रकाशन के लिये पदार्थों का आश्रय ले सकता है और वह यंत्र, गृह, कपड़े, सड़क, जहाज, मोटर कार इत्यादि की सृष्टि करता है। चाहे तो वह मनुष्य के रहन-सहन को अपना कार्यक्षेत्र बना नये-नये रीतिरिवाज, नियम सिद्धान्त, शासन पद्धति और धर्म का सूत्रपात करता है; चाहे तो वह भाषा का आश्रय लेकर उसके माध्यम से सम्बद्ध भावों के रूप में अभिव्यक्त साहित्य का सृजन कर सकता है। अतः प्रत्येक आविष्कारक, धार्मिक नेता, संस्थाओं का संस्थापक गृहनिर्माणकर्ता स्रष्टा है—अर्थात् शब्द के व्यापक अर्थ में कवि है। इन्द्रियों के द्वार से प्रकृत वस्तु उनके अन्दर प्रविष्ट होती है। वे उसे एक सम्बद्ध भाव के रूप में, एक आदर्श व्यवस्था के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं और किसी सविकल्पक पदार्थ में ढालकर उसके स्वरूप को निश्चित कर देते हैं।

प्रत्येक मनुष्य नाचता है, गाता है, प्राकृतिक वस्तुओं का अनुकरण करता है; परन्तु वह यह अपने अन्य क्रियाकलापों की तरह एक तरीके से करता है, किसी क्रमव्यवस्था का पालन करता है; क्योंकि अनुकृत वस्तुओं की प्रकृति में ही कहीं आदर्श व्यवस्था का संकेत है। पर एक बात स्पष्ट दीख पड़ती है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति नाचता है, गाता है और यह भी देखा जाता है कि प्रत्येक एक ही तरह की व्यवस्था का पालन करता है; पर यह भी ठीक है कि प्रत्येक एक ही व्यवस्था का पालन नहीं करता। प्रत्येक के नृत्य या संगीत में व्यवस्था की समानता होते हुये भी भिन्नता दिखाई देती है। कारण क्या है? शेली के विचार में प्रत्येक मनुष्य में इस आदर्श व्यवस्था को वास्तविक रूप में उपस्थित करने की क्षमता समान नहीं होती। जिस अनुपात में यह क्षमता किसी व्यक्ति में वर्तमान है, उसी अनुपात में उसकी अनुकृतियों में विभिन्नता पाई जाती है। इसी को आलोचक समालोचकों ने प्रतिभा कहा है। शेली के शब्दों में 'इस आदर्श व्यवस्था की सच्ची अनुरूपता की कल्पना कर लेने का

क्षमता को आधुनिक लेखकों ने प्रतिभा या taste कहा है। जिन लोगों में यह प्रतिभा (taste) अतिप्रचुर मात्रा में विद्यमान है, वे ही कवि हैं और वे साहित्यिक, आविष्कारक, गृह निर्माता, संस्थाओं व धर्म के जन्मदाता, रीति रस्मों तथा कानूनों के प्रतिष्ठापक किसी भी रूप में प्रकट हो सकते हैं।

अतः इन सब बातों से परिणाम निकला कि जब सभ्यता की शैशवावस्था में आदिम मानव ने प्रकृति की ध्वनि और उसकी हरकतों की अनुकृति से प्रवृत होकर संगीत और नृत्य का आरम्भ किया, तो उसके हृदय के एक कोने को विशुद्ध आनन्द की सृष्टि करने वाली आदर्श व्यवस्था की झलक अवश्य उद्भासित कर रही थी। आगे चल कर यह स्पष्ट भावना इस विश्वास में दृढ़ हो गई कि ऐसी सत्ता का मापदण्ड अवश्य है, जो भले ही जीवन या प्रकृति में दीख न पड़े; पर उसका अस्तित्व अनिवार्य और शाश्वत है। शैली के शब्दों में जिसकी स्थिति का अधिकार अक्षुण्ण है, उसके अस्तित्व की झलक आविष्कारकों, धर्मव्यवस्थापकों और धर्मप्रवर्तकों को मिली है। अतः आदिम युग के संगीत और तान की अनुभूति से प्रारम्भ होकर कला अनुकृति की सीमा लाँघ जाती है, उस पर संशोधन करती है। वह प्रकृति में कोई नई शक्ति अथवा नियम को ऊपर से आरोपित नहीं करती। वह उसमें ऐसी कोई वस्तु जोड़ने का प्रयत्न नहीं करती है, जो उसमें वर्तमान न हो। नहीं, उसका प्रयत्न यह होता है कि प्रकृति के अन्तराल में जो शक्ति है, उसे ही विकसित करे; जो आग छिपी है, उसे ही जगाये और प्रकृति को स्वय अपने उच्चतर भूमि पर ला रखे और कहे कि देखो, आज तक तुम्हें अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं था, तुम अपने को भूली हुई थी। तुममें जो शक्ति मौजूद है उसके अनुसार अपनी गतिविधि को नियंत्रित करो, तो तुम इतनी ज्योतिर्मय हो सकती हो। नहीं, तुम इतना ही नहीं, तुम एक आदर्श सौन्दर्य, सत्य और शिव की स्थापना कर सकती हो।

## कल्पना का पुनर्सृजन : काव्य

कल्पना पुनर्सृजन करती है। प्राकृतिक बाह्य जगत से ही उसे सामग्री प्राप्त होती है, जिसका वह पुनर्सृजन करती है। पर इस पुनर्सृजन करने को प्रेरणा मिलती है उसे अन्तःकरण से। प्राकृतिक वस्तु मनुष्यों की इन्द्रियों के मार्ग से आकर उसके अन्तःकरण पर टकराती है। उस टक्कर से मानों ज्योति की चिनगारी निकलती है, जो उसे आलोकित कर देती है। उस आलोक में मानव एक उन्नत और आदर्श जगत की झलक देखता है और इस नव जगत को प्राकृतिक वस्तुओं पर आरोपित करके मानो वह मूर्तिमान कर देना चाहता

अर्थ में काव्य के ही सगोत्रीय तथा सजातीय हैं; पर छन्द बंधन में तथा भाषा में बँधकर काव्य असीम हो जाता है उसमें अपने में तल्लीन कर लेने की अपार क्षमता आ जाती है, पर अन्य कलाओं की शक्ति परिमित तथा ससीम है।

भाषा कल्पना की अन्यतम कृति है। वह कल्पना ही है। भाषा और कल्पना में वही भेद है, जो जल और तरंग में। भावों से उसका सीधा सम्बन्ध है। कल्पना से भिन्न भाषा का कोई रूप नहीं होता। रंग, प्रकाश, छाया, लकड़ी, पत्थर, लोहा, ध्वनि, जिनके द्वारा चित्रकला-तथा संगीत कला की सृष्टि होती है, उनकी अपनी विशिष्ट स्थिति भावों से अलग भी है। अतः इनके द्वारा भावों की अभिव्यक्ति की जाती है, तो वे भावों के साथ-साथ अपनी स्थिति को प्रकट करती चलती हैं। परिणाम यह होता है कि विशुद्ध अभिव्यक्ति में बाधा पड़ती चलती है, मानो हृदय को इन भावों के विशुद्धतम स्वरूप की उपलब्धि के अभाव से पूर्ण विश्रांति नहीं मिलती। आपने रोटी तो खाई होगी। रोटी कितनी मीठी होती है, पर कहीं कंकर मिल जाय, तो सारा मजा किरकिरा हो जाता है। आप क्षुब्ध हो उठते हैं—यद्यपि आप भोजन छोड़ कर थाल से उठ तो नहीं जाते। वही हालत अन्य कलाओं में होती है। रोटी मिलती है, पर एक आध कंकरी बीच में आकर रसास्वादन का अपकर्षण भी करती रहती है। शेली कहता है कि 'कविता दर्पण है, जो प्रकाश को पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित करती है, और अन्य कलायें मेघ खंड हैं, जो प्रकाश की ज्योति को म्लान कर देती हैं। शेली कहता है, भाषा कल्पना प्रसूत है, अतः उसका सीधा सम्बन्ध पारस्परिक है, जो कल्पना और अभिव्यक्ति के बीच की सीमा तथा सम्बन्ध सूत्र बनती है। यही कारण है कि अनादि काल से विचारों और भावनाओं को चित्रमय भावों के रूप में भाषा के माध्यम से ही सुरक्षित तथा मूर्तिमान करने के लिये मानव सचेष्ट रहा है। विचारों तथा भावों की ऐसी ही अभिव्यक्ति कविता के नाम से पुकारी जाती है। अपने विचारों और भावों को अभिव्यक्त करने तथा प्रकृति पर संशोधन करने की प्रवृत्ति को संतुष्ट करने की सार्वभौमिक व सार्वजनिक प्रक्रिया कविता का रूप धारण करती है।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि मानव चैतन्य के साथ कविता-की प्रवृत्ति सहजात है। ज्योंही उसने किसी वस्तु पर विचार करना आरम्भ किया कि कल्पना ने आकर उसके मूर्तिविधान द्वारा उसे प्रेषणीय बनाना प्रारम्भ किया, ताकि सब मनुष्य उसका दर्शन कर सकें और उसको बोधगम्य कर सकें।

कल्पना बोधगम्य चैतन्य को साकार रूप देने में ही प्रवृत्त होती है। यदि यह बात ठीक है कि कविता की प्रवृत्ति मानवता के साथ लगी है और यह मनुष्य की किसी गम्भीर मांग के उत्तर स्वरूप अवतरित होती है, तो कविता को सभ्य जगत से अर्द्धचन्द्राकार देने वाले पिकाक जैसे विचारकों के सिद्धांतों की आधार शिला ही चकनाचूर हो जाती है। कविता की प्रयोगशीलता इसमें नहीं है कि सैनिकों और विजेताओं की विरुदावली गा कर मनुष्य की हिंसात्मक प्रवृत्तियों को गुदगुदाये, देवी देवताओं व परियों की कहानी कह कर लोगों का थोड़ा मनोरंजन करे और उनकी तमाशबीनी की भूख को सन्तुष्ट करे। नहीं, कविता जीवन तथा प्रकृति के पहलुओं के ऊपर एक विशिष्ट प्रकार से अनुभव करने और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने की प्रक्रिया है। और यह मानव प्रकृति की किसी गम्भीरतम मांग के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और इसमें मानव जाति को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति है। शेली ने कहा है, 'कविता शाश्वत सत्य के रूप में जीवन की वास्तविक प्रतिकृति है।' वह जीवन का ठोस मूर्ति विधान करती है और यह उस सत्य को प्रदर्शित नहीं करती, जो अपूर्ण हो, जो किसी विशेष परिस्थिति तथा किसी विशेष काल के ही लिये लागू हो; पर यह उस सत्य को प्रदर्शित करती है, जो शाश्वत है, असीम है, अनन्त है और सर्वकालीन है। एक शब्द में जो 'सत' है। तभी तो अरस्तू ने कहा कि 'कलाओं में काव्यकला में सबसे अधिक दार्शनिकता है।

कहानी में भी भाषा का प्रयोग होता है। उसे छन्दोबद्ध रूप में कहा जा सकता है और कल्पना का योग तो होता ही है। पर कहानी व काव्य में अन्तर है—वह भी महान व तात्विक। कहानी में तो परस्पर ससंबद्ध और स्वतन्त्र घटनाओं की सूचीमात्र रहती है; समय, स्थान और आकस्मिक परिस्थितियों के क्षीण सूत्र के अतिरिक्त उनको जोड़ने वाली और दूसरी सर्वग्राही व्यापकता नहीं होती। पर कविता के लिये तो एक व्यापक और अवर्द्धमान सत्य चाहिये, जो भावों का रूप धारण करता हो, यह भाव अपने अन्य जातीय भावों को एकत्र करता हो और ये विविध भाव पारस्परिक सहयोग से एक मौलिक पूर्णता की सृष्टि करते हों। और यह निर्माण जीवन व विकास के उन नियमों के अनुरूप हो, जो ईश्वरीय मस्तिष्क में काम करते हैं और बड़े प्रकृति के व्यवहारों में प्रतिलक्षित होते हैं। प्रकृति के सारे व्यापारों के मध्य से होकर प्रवाहित होने वाली जो यह जीवन की शक्ति है, एक हृदय से दूसरे हृदय को सम्बद्ध करने वाली जो धारा है, सब हृदयों को

स्पर्श करने वाला जो यह तार है, अनेकत्व को व्यापक अनुभूति को जगाने वाली जो ज्योति है उसी में प्रकृति का सौन्दर्य है। इतिहास घटनाओं के सिलसिले को हमारे सामने रखता है, पर उन्हें एक तार में पिरोने वाली जो अन्तरवर्तिनी जीवन धारा है, उसे नहीं पकड़ता। परिणाम यह होता है कि उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है और कविता इस हत-सौन्दर्य पर अन्त-वर्तिनी जीवनसुवर्णधारा का पानी फेर पुन: सौन्दर्य मन्डित कर स्थापित करती है।

यह भी संभव हो सकता है कि पूरी रचना भले ही काव्य न हो, पर उसके अंश में कविता रह सकती है। बहुत से असंबद्ध वाक्यों के बीच पड़े एक वाक्य पर भी पूर्णता द्रष्टि से विचार किया जा सकता है और उसमें कवित्व का दर्शन किया जा सकता है; यहाँ तक कि एक पद या पदांश में भी दिव्य ज्योति की चिनगारी रह सकती है। अत: हेरोडोटस, प्लुटार्क, लिवी, जैसे प्रसिद्ध इतिहास लेखक किसी न किसी अर्थ में कवि रहे हैं। यद्यपि अपने विषय के बन्धन में पड़ कर उन्हें इस शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन करने का अवसर प्राप्त नहीं था, वे एक प्रकार से परतन्त्र थे, तथापि अपने विषय के अन्तराल में सजीव और सुन्दर मूर्तियों की स्थापना कर उन्होंने इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करने का प्रयत्न किया है।

## कल्पना की व्यापकता

अब आप किसी भाषा के शब्द समूह और उनके अर्थ पर विचार करें तो आपको काव्योचित विधायक कल्पना की व्यापकता का पता चलेगा और इसका भी पता चलेगा कि वह प्रेरणा, वह कल्पना जो काव्य की जननी है, मनुष्य की आदि सहचरी है और जन्म के साथ ही लगी है। आप देखेंगे कि किसी भाषा में मूल धातुओं (वे शब्द, जो दूसरे शब्दों से मिलकर न बने हों) की संख्या परिमित है। साधारणत: ये मौलिक धातु किसी प्रमेय वस्तु—जैसे वृक्ष, नदी, पर्वत, गाय आदि— के लिए ही आते हैं। परन्तु मनुष्य की विचार शीलता जो ठहरी, वह उसे चैन लेने दे तब न! वह पृथक पृथक रहने वाले पदार्थों में भी सम्बन्ध निकाल बैठती है, व्यक्ति से जाति तक पहुँच जाती है, विशेष से साधारण और वस्तु से भाव तक आ जाती है। पर जिस अनुपात में नूतन भावों की उत्पत्ति होती गई, उसी अनुपात में उनके द्योतक शब्दों की सृष्टि न हो सकी और उन्हीं पुराने शब्दों की संगति बैठाकर, रूपक के रूप में उनका व्यवहार कर उनसे नए अर्थ के उद्देश्य की सिद्धि की गई। हमें किसी भाव को अभिव्यक्त कराने की

आवश्यकता पड़ी, तो हमें उसके लिये शब्द चाहिये। वे आवें कहाँ से ? हमने अपना शब्द कोष देखा। हमने देखा कि इस भाव का ठीक ठीक द्योतन करने वाला शब्द तो नहीं है, पर ऐसे शब्द अवश्य हैं, जो वस्तु विशेष के हैं और उनमें अभिद्योत्य भाव के गुण वर्तमान हैं। बस हमने सोचा—चलो, उसी वस्तु विशेष के वाचक शब्द को खींचकर भाव के वाचकत्व के लिये ही प्रयोग करें। अतः प्रत्येक भाव वाचक शब्द की तह में कोई न कोई वस्तु-वाचकता छिपी पड़ी है और उस भाव को पूर्णरूप से बोधगम्य करने के लिये उस वस्तु के चित्र को अपने मानस पटल के सामने लाना ही होगा। भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने शायद इसे ही लक्षणा कहा है।

इस बात को हृदयङ्गम करने के लिए कुछ अंग्रेजी के शब्दों को लीजिये, Abstraction शब्द का प्रयोग होता है बुद्धि के सहारे एक भाव को दूसरे भाव से खींचकर निकालने के अर्थ में; पर मौलिक रूप में इस शब्द का अर्थ होता था कि वस्तु के एक अंश को काट कर दूसरे अंश से अलग करना। यहाँ पर शारीरिक क्रिया द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक की जाती है, वहाँ पर मानसिक प्रक्रिया के द्वारा पृथक खींच निकालने की क्रिया दोनों में समान है। बस, इतने ही साम्य के बल पर abstraction का प्रयोग मानसिक पृथक्करण के लिये किया जाने लगा। Derive शब्द को ही लीजिये। इसका अर्थ था किसी नदी से कुछ पानी निकाल कर दूसरे मार्ग से प्रवाहित करना। यही पानी निकालने का अर्थ एक भाव से दूसरे भाव को निकालने का अर्थ बन गया। कहा जाता है कि consider शब्द तारों (Sidera) की सापेक्षिक स्थिति को देख कर भविष्य परिणामों के उल्लेख करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था; पर अब इसका प्रयोग किसी गम्भीर विवेचन के लिये किया जाता है। कहाँ तक गिनाया जाय, किसी भाषा का भण्डार ही ऐसे लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग से भरा पड़ा है, और यह काव्योत्पत्ति के मूल में काम करने वाली कल्पना नहीं, तो और क्या है ? ऐसे शब्दों के प्रयोग को भावों का मूर्त विधान ही तो कह सकते हैं। शेली ने कहा है कि 'समाज की शैशवावस्था में भाषा स्वयं ही काव्य है अतः वे लोग भ्रम में हैं, जो काव्य की स्थिति एक विशेष युग में ही मानते हैं। नहीं, इसकी जड़ मानव-स्वभाव के पाताल तक गई है और भाषा के विकास में भी यह काम करती दीख पड़ती है।

पिकाक, हेजलिट और मैकाले—जैसे विचारकों का यह विचार था कि ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जायगी, सभ्यता का विकास होता जायगा,

लोगों में सुख समृद्धि की वृद्धि होगी, कविता का ह्रास होता जायगा; पर शेली का कथन यह है कि नहीं, बात ठीक इसके विपरीत है। कवित्व की प्रतिभा दो रूप में कार्य करती है। प्रथमतः तो यह एक नए लोकोत्तर ज्ञान, लोकोत्तर शक्ति और लोकोत्तर आनन्द की वस्तुओं का सृजन करती है और द्वितीयतः एक आदर्श व्यवस्थित रूप में लोक हृदय के सामने सत और सौन्दर्य से मण्डित उसे उपस्थित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। कहने का अर्थ यह कि कविता बाहरी वस्तु को हमारे अन्तस के नियमों के अनुकूल मांज और संवार कर सामने रखती है ताकि हमारा हृदय उसे अपना ही सजातीय समझ कर तुरन्त अपना ले। पर वैज्ञानिक उन्नति युग में होता क्या है ? यही कि ज्ञान का विशाल क्षेत्र अधिकाधिक रूप में खुलता जाता है, अत्यधिक भौतिक सामग्रियों का अम्बार लगता जाता है, ऐश्वर्य के साधनों की उपलब्धि से भौतिक गोदाम भरता जाता है। यह सब होता तो है; पर मानो वे सब वस्तुयें हमारे हृदय क्षेत्र की परिधि के बाहर ही पड़ी रहती हैं। हम उनको सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कविता का ही काम है कि इन अलग पड़ी वस्तुओं को हृदय के रस से, सौन्दर्य से मण्डित कर हृदय के लिये ग्रहणीय बना देती है। अतः इस विज्ञान के युग में जब नित्य २ नई-नई वस्तुओं का आविष्कार होता जाता है, तो आकृति की वस्तुयें हमें आकर चौंका जाती है उस समय तो इस बात की और भी आवश्यकता हो जाती है कि ऐसी वस्तुओं को, जो हमारी भावात्मक सत्ता से अलग पड़ी अपरिचित सी है, हृदय के समीप आयें और हृदय की वस्तु बन जाँय। यह कविता ही कर सकती है। यह विधान कविता करती आई है, इसमें इसका हाथ मजा है। अतः इस वैज्ञानिक युग में कविता का ह्रास होना तो दूर रहा; वस्तुतः यही तो युग है, जब कविता की आवश्यकता है। जब अनुचित आहार के कारण शरीर में विजातीय द्रव्य एकत्र हो शरीर को अस्वस्थ बना देते हैं, उसी समय ऐसी औषधि की आवश्यकता होती है, जो उनको पचा कर हमारे शरीर के अन्दर काम करने वाली स्वास्थ्य प्रक्रिया से मेल खाये और उन्हें हमारे शरीर की रक्त नालियों में प्रवाहित होने वाली रक्त धारा में मिला मिला कर हमारा सुख साधन करे। विजातीय द्रव्यों के बाहुल्य के वैज्ञानिक युग में कविता की नितांत आवश्यकता है ताकि वे सुपाच्य बन कर हमारे रक्त में घुल-मिल कर एक हो जाँय।

कविता मनुष्य के अन्तर्तम प्रदेश की प्रेरणा के रूप में जन्म लेती है। जब काव्य की प्रेरणा जगती , तो वह कवि को अपने रूप का सृजन करने के लिये बाध्य कर देती है। कवि मानो किसी दिव्य आध्यात्मिक शक्ति

से अभिभूत हो जाता है, जो अभिव्यक्त होकर ही दम लेती है। कविता ही मानो गुलाब में लाली बनकर, ऊषा में अरुणाई बन कर, नदी में गति बनकर और प्राकृतिक दृश्यों में सुषमा बन कर चमकती रहती है। कविता स्वतः प्रसूत होती है। काव्य प्रेरणा की तर्क से तुलना नहीं की जा सकती जिसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार किया जा सके। यह अनियंत्रित होती है, यह किसी का नियंत्रण स्वीकार नहीं करती। कोई यह नहीं कह सकता ( बड़ा-से-बड़ा कवि भी नहीं ) कि 'मैं कविता बनाऊँगा'। यह बनाने की चीज नहीं, बनने की चीज है और बन के ही रहती है। सृजनात्मक प्रक्रिया में संलग्न मस्तिष्क की तुलना एक बुझते हुये कोयले से कर सकते हैं, जो किसी रहस्यमयी शक्ति की फूंक से एक क्षण के लिये चमक उठता है। यह शक्ति मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा से आती है पुष्पों की लाली की तरह जो आगे आकर मुरझा जाती है। हमारे सचेतन मस्तिष्क को इस बात का ज्ञान नहीं होता है। यदि यह शक्ति अपनी विशुद्ध और मौलिक प्रभविष्णुता के साथ स्थित रहती, तो उसकी प्रेरणा से जिस काव्य की सृष्टि होती, वह कितना दिव्य होता, यह कहना कठिन है। पर जब काव्य के सृजन में कवि प्रवृत्त हो जाता है, तब यह शक्ति उतार पर आ जाती है। जिसे आप संसार के श्रेष्ठतम काव्य के रूप में जानते हैं, वह भी कवि के अन्तस में आविर्भूत दिव्य भावनाओं की एक क्षीण प्रतिछाया सी है। इस बात की सत्यता की गवाही के लिए बड़े-बड़े कवियों के कथन को ही प्रमाणरूप में उपस्थित किया जा सकता है। क्या मिलटन ने ही अपने प्रसिद्ध काव्य Paradise lost के विषय में नहीं कहा है कि सरस्वती (muse) ने स्वयं unpremeditated song के रूप में उसे dictate किया है। उन आलोचकों के, जो काव्य के लिये परिश्रम उपादेय बताते हैं, कथन का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि दिव्य शक्ति के स्वागत के लिये मनुष्य को सदा सतर्क और सचेष्ट रहना चाहिये जैसे भक्त अपने भगवान के लिये कितनी साधना करता है, पर भक्ति तो भगवान के अनुग्रह से ही मिलती है।

शेली का कथन है कि काव्य के जितने रूप विधान हैं, उनमें महाकाव्य (epic) को ही सर्वोत्तम कहा जा सकता है; क्योंकि इस विधान में अन्यान्य रूपों का एक प्रकार से अन्तर्भाव हो ही जाता है। एक श्रेष्ठ महाकाव्य का रचयिता वही है, जो अपने राष्ट्र और अपने युग के ज्ञान, भावनायें और धर्म को अभिव्यक्त करता है। यदि कवि अपने युग और राष्ट्र को छोड़कर दूसरे युग और राष्ट्र को अपने काव्य का उपजीव्य बनाता है, तो उसकी अनुभूति First

hand साक्षात् नहीं हो सकती। अतः उसमें वह स्वतःप्रसूति, वह सत्यता, वह ईमानदारी और वह वास्तविकता आ ही नहीं सकती। उसमें कुछ न कुछ कृत्रिमता आ ही जाती है। इस कसौटी पर तीन कवि सच्चे उतरते हैं — होमर, दांते व मिलटन। होमर ने १००० ई० पू० के ग्रीक जीवन का सच्चा चित्रण किया, दांते ने मध्यकालीन कैथोलिक इटली की विचार धारा को गम्भीरता से अभिव्यक्त किया और मिलटन ने सुधार युग के प्रोटेस्टेन्ट इंगलैण्ड का सजीवता के साथ वर्णन किया। वर्जिल और टासो को श्रेष्ठतम कवियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि उनके काव्य का आधार वह युग है, जिसमें उन्होंने जन्म नहीं लिया था जिसके अन्न जल से उनके जीवन तंतु का निर्माण नहीं हुआ था तथा जिसकी धड़कन में उनके हृदय की धड़कन नहीं बोल सकती थी। जिस युग का उन लोगों ने वर्णन किया है, उसकी रूप रेखा उनके मस्तिष्क पर स्वतः प्रसूत नहीं थी। उसके सम्बन्ध में उन्होंने पुस्तकें पढ़-पढ़ कर विद्वता के सहारे जानकारी प्राप्त की थी, उसमें उनका विश्वास नहीं था। अतः उनके काव्यों की रचना में कृत्रिमता की बू आ ही गई है। उनके काव्य में क्लिष्ट कल्पना तो नहीं कही जा सकती, पर सहज कल्पना भी नहीं है, जो काव्य का प्राण है।

अब केवल दूसरा प्रश्न रह जाता है कि कविता की उपयोगिता क्या है? जब हम स्पष्ट देख रहे हैं कि कविता के हवाई महल वास्तविकता की पहली टक्कर से चूर चूर हो जाते हैं, उसे लेकर हम एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते तब यह कहना ही पड़ता है कि कवि को वैज्ञानिकों, आविष्कारकों एवं संस्थापकों का मार्ग प्रशस्त कर अलग हो जाना चाहिये। हाँ, ठीक है, किसी वस्तु का मूल्यांकन उसकी उपयोगिता की दृष्टि से ही होना चाहिए; पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कविता की उपयोगिता भी जीवन के लिए सबसे अधिक है।

उपयोगिता का अर्थ क्या? कोई भी वस्तु तब उपयोगी कही जा सकती है जब कि उसके द्वारा मनुष्य की प्राकृतिक मांग की पूर्ति होती है। यह मांग या आवश्यकता दो तरह की हो सकती है — प्रथमतः तो शारीरिक मांग जिसके द्वारा शरीर की सेवा की जाती है, उसके लिये सुख के साधन का आयोजन किया जाता है, अन्न जल से उसे तृप्त किया जाता है। इस में कोई शंका ही कैसे कर सकता है कि वे वास्तविक मांगे हैं और इनकी पूर्ति में संलग्न रहने वाले व्यक्ति सचमुच मानवता के हित साधक हैं। पर मनुष्य में एक दूसरी तरह की भी मांग होती है। शारीरिक मांग भी इसकी पूर्ति के साधन मात्र हैं, वे स्वयं इसकी सहायता के लिए आगे बढ़ती हैं। शरीर की

स्थिति स्वयं चैतन्य (mind) के धारण करने के लिए है, शरीर वजूद में आता ही है इसी लिये कि वह आकर चैतन्य को धारण कर सके। अतः शारीरिक आवश्यकतायें मानसिक आवश्यकताओं के आगे अप्रधान हो जाती हैं, उनमें सेव्य-सेवक का सम्बन्ध हो जाता है। अतः युक्ति संगत परिणाम यही निकलता है कि जो चीज इस मानसिक मांग की पूर्ति में समर्थ होगी वह शारीरिक मांग की पूर्ति भर करने वाली वस्तु से कहीं अधिक उपयोगी कही जायेगी।

तर्क, बौद्धिकता या विचार ही मनुष्य जाति की विशिष्टता है। मनुष्य उनके सहारे देखता है कि इन्द्रियानुभूत जितने प्राकृत पदार्थ हैं उनमें मानों अधूरापन है, वे हमारी सारी प्रवृत्तियों (faculties) को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं स्वभावगत सारी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकतीं। हां, इनके द्वारा एक आदर्श व्यवस्था की झलक अवश्य मिलती है। अतः इन वाह्य पदार्थों के पर्दे को हटा कर देखने की, प्रकृति और जगत की गंभीर वास्तविकता के रहस्योद्घाटन की उत्कंठा जागरित होती है और मनुष्य कल्पना के द्वारा एक ऐसी आदर्शात्मक सत्ता का दर्शन कर लेता है जो प्रत्येक वस्तु में निहित रहती है। प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में वर्त्तमान रहने वाला यह असंतोष (divine discontent), एक आदर्श प्राप्ति की आकांक्षा केवल कपोल कल्पित चीज नहीं पर बौद्धिक जीवन की युक्ति संगत चीज है। यह जीवन की प्रेरक शक्ति के रूप में स्थित है जिसके द्वारा ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मानसिक जगत की इस आवश्यकता को कविता प्रत्यक्ष और वोधगम्य रूप में पूरी करती है। अतः कविता एक ख्याली पुलाव जैसी चीज नहीं पर मानव चेतना की चिर संगिनी है और उपयोगिनी भी है। कविता अपनी आदर्श व्यवस्था के आलोक में हमें सच्ची स्थिति का ज्ञान कराती है, हमें बतलाती है कि हमारी शक्ति क्या है, हम क्या हो सकते हैं, हमारा विकास कहाँ तक हो सकता है, एक बूंद में समुद्र का व्यापकत्व किस तरह छिपा पड़ा है, ससीम किस तरह निस्सीम का स्पर्श कर रहा है। कविता हमारे ऊपर पड़े अज्ञान के पर्दे को हटा देती है, हमें आदर्श की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करती है, और हमारे मानस को विकसित होने के लिए अपार क्षेत्र का उद्घाटन करती है। इतने पर भी कविता को निरोपयोगी बताना हिमाकत नहीं तो और क्या है?

# विलियम वर्डस्वर्थ और उसकी कविता

( १७७०-१८५० )

विलियम वर्डस्वर्थ का जन्म १७७० में Cockermouth नामक स्थान में हुआ था। इसके पिता एक अच्छे प्रतिष्ठित सरकारी वकील थे। माता Anne Cookson Pearith के एक बहुमूल्य रेशमी वस्त्र इत्यादि के धनाढ्य व्यापारी की पुत्री थी। वर्डस्वर्थ जब आठ ही वर्ष का था तो इसकी माता की मृत्यु हो गई और पाँच वर्षों के बाद इसके पिता की छत्र-छाया अपने पुत्र पर से उठ गई और बालक एक तरह से अनाथ हो गया। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा एक स्थानीय स्कूल में हुई। तत्-पश्चात् उसकी उच्च शिक्षा काम्ब्रिज में हुई। उसने दो बार फ्रांस की यात्रा की पहली १७९१ में और दूसरी १७९२ में। वे फ्रांस में बड़े उथल-पुथल के दिन थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था। प्राचीन रूढ़ियाँ, लोगों को दासत्व की शृंखला में बाँधे रखने वाली सारी प्राचीन प्रथायें एक-एक कर टूट रहीं थीं और लोग ( समता ) equaiity भ्रातृत्व (Fraternity) और स्वतन्त्रता (Liberty) के स्वप्नों को संसार में चरितार्थ कर दिखाने वाली समाज-व्यवस्था की कल्पना से उन्मत्त हो रहे थे। वर्डस्वर्थ के भावुक और ग्रहण-शील हृदय पर इसका बड़ा असर पड़ा और वह विचार कर ही रहा था कि वहाँ के क्रान्तिकारियों के साथ मिल कर नूतन व्यवस्था के निर्माण में अपना सहयोग दे कि उसी अवसर पर उसके अभिभावकों ने बुला लिया और उसे पुनः इंग्लैण्ड में आना पड़ा जहाँ उसने जीवन के अवशेष दिन व्यतीत किये। वहाँ वह अपनी स्नेहमयी बहन Dorsetshire के साथ १७९७ तक बड़े ही आनन्द पूर्वक रहा। जीविका का कोई विशेष साधन नहीं था और वह जम कर कोई काम भी नहीं करता था। अधिक-से-अधिक समय काव्य की रचना में ही लगाता था। १७९७ में कालरिज से उसकी मैत्री हुई। यह उसके जीवन की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है। वह Somerset में Nether

Stowey पर एक वर्ष कालरिज के साथ रहा। दोनों में साथ ही काव्य-सम्बन्धी चर्चा होती, वे एक दूसरे से अपने काव्य सम्बन्धी विचारों का विनिमय करते और साहित्य की गति-विधि को उचित मार्ग पर लाने के लिये तरह तरह की योजना बनाते। इस पारस्परिक सम्पर्क के फल-स्वरूप दोनों कवियों के सम्मिलित प्रयत्न से Lyrical Ballads नामक काव्य-संग्रह का प्रकाशन १७९८ में हुआ। १८ वीं शताब्दी के क्लासिकल साहित्य के प्रभाव से आच्छादित काव्य की प्रशान्त धारा में यह भयानक विक्षोभ कर देने वाली वस्तु थी। इसकी भूमिका में वर्ड्स्वर्थ ने अपने साहित्य शास्त्रीय मंतव्यों को बड़े ही सशक्त और सजीव शब्दों में प्रकाशित किया था। उसके बाद वह कुछ दिनों के लिए जर्मनी गया और वहाँ से लौट कर वह अपनी बहन के साथ अपने जन्म-स्थान पर ही स्थायी रूप से करीब-करीब ५० वर्षों तक रहा। उसने अपना विवाह किया, उसके बच्चे भी पैदा हुए, उसकी आर्थिक स्थिति भी सुधरती गई, आलोचकों की दृष्टि में ऊँचा उठता गया और यशोपार्जन भी काफी किया। साउदे की मृत्यु के बाद १८४३ में कवि-सम्राट ( पोएट लारियेट ) के पद से भी उसे सम्मानित किया गया। उसकी मृत्यु १८५० में हुई।

इस तरह हम देखते हैं कि वर्ड्स्वर्थ ने पर्याप्त लम्बी आयु पाई थी। १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और १९ वीं शताब्दी के प्रथम पाँच दशकों में इंग्लैण्ड की जितनी विचारधाराएं थीं उन सबसे वर्ड्स्वर्थ ने कुछ-न कुछ ग्रहण किया और उन्हें अपने व्यक्तित्व से प्रभावित भी किया। युग से प्रभाव ग्रहण करने और उसे प्रभावित करने के लिए आदमी के व्यक्तित्व में जिस गुण की आवश्यकता होती है वह उसमें पूर्णरूपेण वर्त्तमान था। उसमें कोई ऐसी असाधारणता न थी जिसके चलते वह युग के जन-समूह से बहुत दूर पड़ जाय और लोग उसे आश्चर्यचकित दृष्टि से देखें। उसकी प्रशंसा भी करें पर उसके समक्ष अपने को ला सकने में कठिनता का अनुभव करें। वह साधारण व्यक्ति था और साधारण दृष्टिकोण से किसी वस्तु पर विचार कर उसे साधारण तौर पर ही लोगों के सामने रखता था। यह साधारणता ही उसकी उच्चता थी। शेली की तरह उसमें वासना की उद्दाम प्रबलता न थी जो उन्मुक्तता, निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द बन्धन-हीन स्वर्ग लोक की कल्पना से लोगों को आश्चर्य में डाल दे। कीट्स की तरह उसमें शक्ति न थी कि भाषा को ऐन्द्रिय सौन्दर्य से समन्वित कर एक अपूर्व गौरव से मण्डित कर दे। बाइरन की उल्कापाती चमक उसमें न थी। वह स्काट की तरह न तो विद्वान ही था और न उसमें स्काट का वर्णनात्मक कौशल ही था। विचारों

की सूक्ष्मता, उनकी प्रभावशीलता तथा रोमांस की हैरतअंगेज जादूगीरी में उसका साथी कालरिज उससे कहीं बढ़-चढ़ा था। पर जहाँ तक युग को प्रभावित करने का प्रश्न है तत्कालीन कवियों में कोई भी ऐसा नहीं जो वर्डस्वर्थ की समता कर सके। दो तरह के विद्यार्थी होते हैं। पहली श्रेणी में वे जो एक विषय में सबसे अधिक अंक के अधिकारी होते हैं, इतने अधिक कि परीक्षक को दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती है पर दूसरे विषयों में अत्यन्त निर्बल होते हैं, पास कर लेने भर भी अंक नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरी श्रेणी में वे विद्यार्थी आते हैं जो किसी एक विषय में आश्चर्य चकित कर देने वाली प्रतिभा का तो प्रदर्शन नहीं करते पर वे सब विषयों में अच्छे अंक प्राप्त करते हैं और उनके प्राप्त अङ्कों का जोड़ सबसे अधिक होता है और जब पारितोषिक देने की बात आती है तो इन्हीं की पुकार होती है। वर्डस्वर्थ दूसरी श्रेणी का विद्यार्थी था, किसी विषय में धुँआधार नहीं पर किसी में फिस्सडी भी नहीं।

ऊपर वर्डस्वर्थ की साधारणता की चर्चा की गई है। यह सच है कि उसके विचारों और भावों का निर्माण उस युग के प्रचलित उपकरणों से ही हुआ है, उसमें कोई ऐसी बात नहीं दिखलाई पड़ती जिसे हम एकदम मौलिक कह सकें। पर वर्डस्वर्थ की मौलिकता इस बात में है कि जिन-जिन भावों और विचारों को उसने लिया है उन पर उसने अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ दी है और कुछ इस ढङ्ग से उन्हें अभिव्यक्त किया है कि वे वर्डस्वर्थीय विशिष्टता से समन्वित हो गये हैं। वास्तव में बात तो यह है कि मनुष्य के विचारों में मौलिकता होती ही नहीं। जिसे हम मौलिक कह कर पुकारते हैं वह भी एक तरह से हमारी शिक्षा-दीक्षा और हमारे वातावरण से ग्रहण की हुई होती है और उस पर इतनी क्रियाओं और प्रति-क्रियाओं का असर इतने सूक्ष्म रूप से होता है कि उसका हमें पता भी नहीं चलता। वर्डस्वर्थ की विशिष्टता इसी बात में है कि उसने बाहर के वातावरण से भावों को लेकर उसे अपना बनाकर लोगों के सामने नई साज-सज्जा से परिवेष्टित करके रखा है। उसकी कविताओं के अध्ययन से ऐसा मालूम होता है कि यदि उसका जन्म एकदम जन-हीन और पुस्तक-हीन संसार में भी हुआ होता तो भी उसके विचार वही रूप धारण करते जिन्हें हम आज देख रहे हैं। सब कविताओं में एक सजीव मस्तिष्क, सहानुभूति-पूर्ण हृदय और सर्जीव व क्रियात्मक सृजनशील व्यक्तित्व का दर्शन होता रहता है। पाठक के लिए इससे बढ़कर सन्तोषप्रद और कोई भी बात नहीं हो सकती। पाठक

की स्थिति उस बालक की होती है जो मिट्टी के खिलौने की आशा लगाये रहता है। उसे आप एक तुच्छ सी प्यार की बात या एक छोटा सा खिलौना देकर ही उसके हृदय पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। हो सकता है इन चीजों का आपके लिए कुछ भी मूल्य न हो पर बालक का हृदय इनको पाकर कृतज्ञता से भर उठता है। पर यदि आप उसे एक ऐसा खिलौना दे दें जो शक्कर का बना हो, 'जिसे खेल लो खिला लो और टूट जाय तो खा लो' वाला गुण भी मौजूद हो तो उस बालक की कृतज्ञता का कहना ही क्या है। कुछ साधारण सी चाह लेकर पाठक वर्ड्स्वर्थ की कविताओं के पास जाता है। उसने आशा की है उन कविताओं से उसे आनन्द की प्राप्ति होगी, उसका हृदय आनन्द की लहर से जगमग हो उठेगा पर वर्ड्स्वर्थ के काव्य के सम्पर्क में आकर उसे आनन्द के साथ ही साथ एक ऐसी गम्भीर विचार-धारा भी पाठक के जीवन में सम्मिलित हो जाती है, जो उसके दैनिक जीवन व्यापार में भी साथ नहीं छोड़ती। उसे जीवन की वास्तविकता को देखने की प्रवृति जगती है। वह वर्ड्स्वर्थ से दर्शन-शास्त्र का प्रथम पाठ पढ़ता है। कवि होते भी, अपना सारा जीवन काव्य की रचना में व्यतीत करते भी वर्ड्स्वर्थ का ध्येय सौन्दर्य की सृष्टि की ओर उतना नहीं था जितना कि सत्य के अन्वेषण की ओर। रोमाण्टिक-युग और क्लासिकल-युग के कवियों में एक विशेष भिन्नता यह भी है कि क्लासिकल कवि के सामने सुन्दरम् की मूर्त्ति रहती थी तो रोमान्टिक कवियों के सामने सत्य की।

वर्ड्स्वर्थ के साहित्य के अध्ययन से एक और बात स्पष्ट हो जाती है। अपने प्रारम्भिक दिनों में वह क्रान्तिकारी था, समाज की प्राचीन रूढ़ियों और जीर्ण-शीर्ण बंधनों से मुक्ति कामना की प्रबल आकांक्षा उसमें थी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के उन्मादकारी हलचल का उसके हृदय पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा था। जब तक वह काम्ब्रिज में अध्ययन करता था प्राकृतिक दृश्य की सुषमाओं से, जंगल की हरियाली से, नदियों के कलरव से, पशुओं की वन्य स्वच्छन्द गति से, खुले मैदानों के सौन्दर्य से उसकी आत्मा प्रभावित थी। पर फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने, मालूम पड़ता है, उसके हृदय की गति को एक दूसरे मार्ग में मोड़ दी है और वह एक नूतन लोक के निर्माण में लग गया। उसने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के स्वागत में जो कविता लिखी है उससे उसके हृदय का भावोन्माद फूट-फूटकर उछलता दिखाई पड रहा है।

Oh ! Pleasant exercise of hope and joy !
For mighty were the aneities which then stood

Upon our side, we who were strong in love,
But to be young was very heaven ! OH ! times,
In which the meagre, stale, forbidding ways
Of custom, law and statute, took at once
The attraction of a country in Romance !
When reason seemed the most to assert her rights
When most intent on making of herself
A prime enchantrin — to assist the work
Which then was going forward in her name !
Not favoured spots alone, but the whole earth,
The beauty wore of promise—that which sets
(As at same moment might not be unfelt
Among the bowers of paradise it-self)
The budding rose above the rose full blown
What temper at the prospect did not wake
To happiness methought of ought of ? The inert
Were roused, and lively natues raft away !

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की प्रारम्भिक भव्यता की छाप वर्ड्स्वर्थ के हृदय पर इस तरह पड़ी थी और वह उसकी उत्तमता पर इस तरह मुग्ध था कि जब राजनैतिक मत-भेद के कारण इंगलैण्ड और क्रान्ति की जननी फ्रांस में युद्ध छिड़ा तो यह उसके लिए बड़ी कड़ी परीक्षा की घड़ी साबित हुई। उसने कहा है कि वे दिन उसके लिए कितने कष्टमय थे जब कि वह दिन रात अपने देश की पराजय की प्रार्थना किया करता था मानो वह अपने ही देश के लिए आस्तीन का सांप हो। इन्हीं दिनों संसार के संघर्ष से ऊब कर उसने प्रकृति की गोद में आश्रय लेना स्वीकार किया। उसकी प्रकृति-सम्बन्धिनी जितनी श्रेष्ठ कवितायें हैं वे इसी समय लिखी गई थी। १७९८ में पाँच वर्षों के बाद वर्ड्स्वर्थ Wyet Valley में भ्रमण करने गया तो उसने बड़ी हसरत भरी निगाहों से देखा और उस समय उसके हृदय से जो उद्गार निकले वे काव्य-जगत की चिरस्मरणीय और जरा-मरण-हीन सम्पत्ति बन गये हैं।

These beauteous forms
Through a long absence, have not been to me
As is a landscape to a blind man's eye :

But oft, in lonely rooms and mid the din
Of towns and cities, I have owed to them,
In hours of weariness, sensations sweet,
Felt in the blood, and felt among the heart,
And passing even into my purer mind,
With tranquel restoration; feelings too
Of unremembered pleasure; such perhaps,
As have no slight or trivial influence
On that best portion of good man's life,
His little, nameless, unremembered acts
Of kindness and of love. Nor less, I trust,
To them I may have owed another gift,
Of aspect more sublime, that blessed mood,
In which the burthen of the mystery
In which the heavy and weary weight
Of all this unintelligible world,
Is lightened : that serene and blessed mood
In which the affections gently lead us on,—
Until, the breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul,
While with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy,
We see into the life of things.

परन्तु इस तरह की स्वच्छन्दता और प्रकृति का गीत गाने वाला गायक आगे चलकर एक दम कट्टर पंथी हो गया यह देख कर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। उसके दृष्टिकोण में एक काठिन्य और कट्टरता आ गई। वह प्रत्येक सुधार का विरोधी हो गया। १८१५ में नेपोलियन के साम्राज्य के पतन के बाद जो फ्रांस तथा यूरोप में प्रतिक्रिया की लहर चली उसका वह समर्थन करने लग गया। Holy alliance जैसे दकियानूसी और देश की राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता को कुचल देने वाले राजनीतिज्ञों के गुट्ट का वह

समर्थक हो गया । अपने देश में स्त्री-शिक्षा, उद्योग-शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, आइरिश कैथोलिक इमानसीपेशन, पार्लियामेन्ट द्वारा दास-प्रथा का नाश, फांसी की सजा को हटाना, पार्लियामेन्ट में सुधार — इत्यादि सब सुधारों और प्रगतियों का विरोधी बन गया । "किं अतः आश्चर्यम् परम"

जीवन के उष: काल में क्रान्ति की पताका फहराने वाला कवि सायंकाल में किस तरह एक कट्टरपंथी और प्रगति के मार्ग में विरोधी के रूप में परिणत हो गया इस इतिहास का अध्ययन कितनी ही दृष्टियों से मनोरंजक और हमारे लिए शिक्षाप्रद भी हो सकता है । एक कोने पर खड़ा रहने वाला व्यक्ति ठीक उसके विपरीत कोने पर किस तरह जाकर खड़ा हो गया और अपने सारे पूर्व कृत्यों पर एक तरह से पानी फेरने लग गया इसका सारा उत्तरदायित्व उसकी बाह्य परिस्थितियों पर है। उसमें जितने परिवर्त्तन होते गये हैं उन सबों का मूल उसकी बाह्य-परिस्थितियों के परिवर्त्तन में ढूंढ़ा जा सकता है।

देश के किसी आन्दोलन के सूत्रपात की अथवा किसी के व्यक्तिगत जीवन में व्यक्ति की विचारधारा में परिवर्त्तन के प्रारम्भ की कोई निश्चित् तिथि नहीं बतलाई जा सकती । कारण कि परिवर्त्तन का क्रम इतना सूक्ष्म और इतना शनैः शनैः होता है कि कब उसका बीजारोपण हुआ, किन किन परिस्थितियों का सहारा पाकर उसमें अंकुर लगे इसका पता लगाना कठिन होता है । वृक्ष जब पुष्पित और पल्लवित हो जाता है, उसमें शाखायें और प्रशाखायें लग जाती हैं तब हम इन्हीं के सहारे जड़ की ओर देखने का प्रयत्न करते हैं। पर जड़ तो जमीन की गहराई में होती है न, व्यक्ति की सीमित दृष्टि के परे । वर्डस्वर्थ के सम्बन्ध में इतनी बात निश्चित् रूप से कही जा सकती है कि १८०५ तक उसकी उन सारी कविताओं की रचना हो चुकी थी जिन पर उसकी प्रतिष्ठा निर्भर करती है । १८०५ तक उसकी सारी उत्तमोत्तम कृतियों का प्रणयन हो चुका था। The Recluse. The prelude, Excursion और उसकी बहुत सी छोटी-छोटी भाव-प्रवण गीतियाँ, बेलेड्स और सॉनेट्स अब तक लिखे जा चुके थे। उसकी प्रसिद्ध कविता Ode on Intimation of immortality की रचना हो गई थी। उसकी आयु उस समय ३६ वर्ष की हो चुकी थी, बाइरन की मृत्यु इसी आयु में हुई थी और शेली या कीट्स तो इससे कम अवस्था में पंचत्व को प्राप्त हो गये थे। यदि १८०५ के पश्चात किसी कारण से वर्डस्वर्थ की लेखनी रुक गई होती और वह एक भी कविता की रचना नहीं करता तो भी उसकी कीर्ति पर किसी तरह की आंच नहीं आने पाती और अंग्रेजी साहित्य को, अपनी

भाव-प्रवण कृतियों द्वारा समृद्ध करने वाले कलाकारों में उसका नाम उसी आदर के साथ लिया जाता। वल्कि कहा तो यह जा सकता है कि यदि वर्ड्सवर्थ ने लिखना बन्द कर दिया होता तो उसकी कीर्त्ति और भी अधिक जाज्वल्यमान रहती। जीवन के आनन्दोल्लास, विरह और मिलन, प्रकृति के अनुपम वैभव और स्फूर्तिदायक शृंगार की विजय-गीति गाने वाला कवि आगे चलकर लोगों को शिक्षा देने, कर्त्तव्य-परायणता का पाठ पढाने और जीवन को सुखमय और दुखमय बनाने का नुस्खा बतलाने लगा। यही बात हिन्दी के स्व-नाम धन्य कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी के बारे में भी कही जाती है। आलोचकों का कहना है कि प्रिय-प्रवास लिख लेने के बाद यदि 'हरिऔध' जी ने अपनी लेखनी को विश्राम दिया होता तो उनके लिये अधिक श्रेयस्कर होता। उसके बाद उनकी जितनी कृतियाँ हैं उनमें उनकी काव्यात्मक प्रतिभा की ज्योति का दर्शन नहीं हो पाता। रस कलश इत्यादि पुस्तकों में तो उनके 'बुढ़भस' का भी इजहार होता है।

प्रत्येक इतिहास के विद्यार्थी को मालूम है कि लोगों में स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व के स्वप्न के नारे को लेकर उठ खड़ी होने वाली क्रान्ति ने आगे चल कर कौन सा वीभत्स रूप धारण किया, किस तरह क्रान्तिकारी फ्रांस के द्वारा ही अपने ही प्रतिपादित सिद्धान्तों की निर्मम हत्या होती गई, किस तरह नेपोलियन सारी शक्ति को हड़प कर सबसे बड़ा निरंकुश शासक बन बैठा और यूरप के अन्य देशों को फ्रेंच-साम्राज्य का अंग बनाने लगा, किस तरह शान्ति और सुख का स्वप्न दिखलाने वाले लोगों ने सारी पृथ्वी को रक्त से सराबोर कर दिया। इस परिवर्त्तन का असर वर्ड्सवर्थ के भावुक हृदय पर पड़ा। इसने वर्ड्सवर्थ को मुड़कर देखने के लिए प्रेरित किया और बाध्य किया कि वह अपनी सारी धारणाओं और मान्यताओं की एक बार परीक्षा करके देखे। मालूम पड़ता है कि जब फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने अत्याचार और रक्त-स्नान का भयानक रूप धारण किया और वहाँ के प्रजातन्त्र (Republic) ने आक्रमणात्मक युद्ध के लिए प्रयाण किया उसी समय वर्ड्सवर्थ के हृदय से भी सुधारों के प्रति आस्था ने भी प्रस्थान किया। इस घटना में संस्कृत के अलंकार शास्त्रियों के अतिशयोक्ति अलंकार का अच्छा उदाहरण मिल सकता है दो घटनाओं का युगपत् आविर्भाव अतिशयोक्ति अलंकार के उदाहरण का अवसर उपस्थित करता है। साहित्य-दर्पणकार ने इसका उदाहरण दिया—

समेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं महीक्षिताम्

अर्थात् गजासन पर आरूढ़ होने वाले रघु के चरण अपने सिंहासन पर और अपने शत्रुओं के मस्तक पर एक साथ ही पड़े हैं। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए कहा जा सकता है कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से क्रान्तिकारी भावों का प्रयाण और वर्डस्वर्थ के हृदय से सुधारों की आस्था का प्रस्थान—ये दोनों घटनायें एक साथ ही घटीं। वह उस समय के प्रसिद्ध तत्व-वेत्ता विलियम गोडविन के सम्पर्क में आया और तत्व-चिन्तन में मग्न होने लगा और मानव जाति की मनोवृत्तियों का सूक्ष्म-विश्लेषण करके इस परिणाम पर पहुँचा कि मानव-जीवन की वे बुराइयाँ जिन्हें वह दूर करना चाहता है किसी सामाजिक व्यवस्था के कारण उतनी नहीं हैं जितनी कि मनुष्य के मौलिक स्वभाव के कारण। मनुष्य के स्वभाव में कुछ ऐसी प्रवृतियाँ वर्त्तमान रहती हैं जो उसे इधर उधर नकेल पकड़ कर घुमाती हैं। सबसे बड़ा ज्ञानी भी अपनी बुद्धि और तर्क शक्ति का प्रयोग दूसरों पर अत्याचार करने में लगा सकता है और घृणित से घृणित कर्म को धार्मिकता का रूप दे सकता है। तर्क अनैतिक होता है। मानव के सम्बन्ध में ऐसे ही नैराश्य के भाव उसने अपने लिखित नाटक Borders में प्रगट किये हैं। यदि नैतिकता के परम्परागत बन्धन शिथिल कर दिए जाँय, भावनाओं के द्वारा मानव को जो एक मार्ग प्रदर्शन मिलता है उसे दूर कर दिया जाय तो एक साहसी और चतुर व्यक्ति को मन-मानी करने का पूर्ण अवसर मिल जाता है और वह अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर बुरे से बुरे कर्म पर भी उतर आता है। अतः कहा जा सकता है कि फ्रांस की क्रान्ति के स्वरूप के इस परिवर्त्तन ने वर्डस्वर्थ की तरुणाई के उत्साह और उमंग पर अविश्वास और अनास्था की छाया डाल कर उसे मलिन कर दिया।

वर्डस्वर्थ में परिवर्त्तन का एक दूसरा कारण पारिवारिक भी हो सकता है। १८०२ में उसने Mary Hutchinson से विवाह किया। १८०३ और १८१० के बीच में उसे पांच बच्चे उत्पन्न हुए। उनमें से दो की मृत्यु तो करीब करीब एक ही समय १८१२ में हो गई। १८०५ में उसका प्रिय भाई John जहाज से डूब कर मर गया जिसकी चोट उसके कोमल हृदय पर मार्मिक थी। इन सब घटनाओं का प्रभाव तो वर्डस्वर्थ के हृदय पर पड़ा ही परन्तु उसकी पत्नी मेरी के स्वभाव का भी असर उस पर कम न

पड़ा। मेरी एक धीर, गम्भीर और शान्त स्वभाव की नारी थी। अब तक वर्ड्स्वर्थ का जीवन अपनी बहन Dorathy wordsworth के साहचर्य में व्यतीत होता था। वह बड़ी ही भाव-प्रवण, भावुक उमंग और उत्साही और प्राकृतिक दृश्यों पर मुग्ध होने वाली नारी थी। ऐसी नारी के अंचल से हट कर मेरी जैसी गम्भीर नारी की छाया में जाकर वर्ड्स्वर्थ का गम्भीरता और बुजुर्गी की ओर बढ़ना स्वाभाविक ही था। साथ ही बढ़ते परिवार वाले पिता के उत्तरदायित्व ने भी उसके रूख में परिवर्त्तन किया होगा। सबसे अधिक निराशा उसको अपने अन्तरंग मित्र कालरिज की शारीरिक और मानसिक दुर्गति देख कर हुई जो अफीम की बुरी लत के कारण हो रही थी। उससे भी कड़ी चोट तो उसके दिल पर उस समय पड़ी जब उसने यह देखा कि उसका पुराना मित्र, अपने अफीम के नशे की एक तरंग में आकर अपनी आलोचनाओं के द्वारा वर्ड्स्वर्थ की ही जड़ कुरेदने में लगा है।

इस प्रश्न का एक और भी दिलचस्प पहलू है। वर्ड्स्वर्थ की जीवनी के पढ़ने से पता चलता है कि १८०९ तक उसकी आर्थिक अवस्था कभी भी सन्तोष जनक नहीं रही और उसे अभावमय ही जीवन व्यतीत करना पड़ता था। पर बाद में उसकी आर्थिक दशा में सुधार होता गया और लोगों के बीच उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ने लगी। १८१२ में Westmorland के टिकट वितरक (Stamp distribu-tor) के पद पर नियुक्ति हो गई। १८१४ में Rydal Mount पर उसकी बदली हो गई और वहाँ पर अभिजात्य वर्ग और उच्च वर्ग के धर्माधिकारियों के बीच तथा अपने प्रशंसकों से घिरा वह जीवन सुख पूर्वक व्यतीत करने लगा। वहाँ पर दूर-दूर से लोग उसके दर्शन करने के लिए बड़ी श्रद्धा और आदर की भावना को लेकर आते और उससे बातें करने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए लालायित रहते। उसके कविताओं की ध्वंसात्मक आलोचनाओं के कारण तथा स्काट और बाइरन की कविताओं की प्रगतिशील प्रसिद्धि के कारण वर्ड्स्वर्थ के प्रति लोगों की उपेक्षा की भावना होने लगी थी पर १८२० से उसकी प्रसिद्धि बढ़ चली, यहाँ तक कि १८३९ में Oxford विश्व-विद्यालय में उसका शानदार स्वागत किया गया। १८४२ में सरकार के द्वारा उसे पेनशन मिलने लगी। १८४३ में उसे युग का सर्व श्रेष्ट पुरस्कार Poet laureate ship की उपाधि से विभूषित किया गया। कहने का अर्थ यह है कि इन दिनों उसकी आधिभौतिक और संसारिक सुख स्मृद्धि में उत्तरोतर वृद्धि होती गई। पर आश्चर्य की बात यह है कि इन्हीं दिनों उसकी सृजनात्मक प्रतिभा का भी ह्रास होता गया। यह जानने की इच्छा होती है कि क्या इस सांसारिक सुख की

बावजूद भी एक बात स्पष्ट परिलक्षित होती है और वह है सत्य और शिव के प्रति वर्डस्वर्थ के हृदय की अपार भक्ति। वह सुन्दर का नहीं परन्तु सत्य और शिव का उपासक था और उसमें चाहे जो कुछ परिवर्तन हुआ हो वह सब हुआ है इन्हीं दो तत्वों के अनुरोध से।

हमारा ध्येय वर्डस्वर्थ की कविता की विशेपताओं और प्रवृितयों का विस्तृत विवरण उपस्थित करना नहीं है। उसके काव्य सम्बन्ध शास्त्रीय विचारों को उपस्थित करना हमारा लक्ष्य है पर उसकी कविताओं के अध्ययन करने के पश्चात दो मूल भूत सिद्धान्तों का पता चलता है जो उसके काव्य की गति-विधि को संचालित करते रहे। उनकी चर्चा कर देना आवश्यक समझता हूँ। एक धारणा का संबन्ध मनुष्य से था और दूसरे का प्रकृति से। मनुष्य के वैयक्तिक गौरव में उसका पूर्ण विश्वास था, वह विश्वास करता था कि नर में नारायणत्व का बीज है, नर चाहे तो नारायण हो सकता है, वह चाहे तो परिस्थितियों के हाथ में खिलौना नहीं रह कर उन पर शासन कर सकता है। दूसरी बद्धमूल धारणा उसकी यह थी कि प्रकृति के अंचल की खूंट को पकड़ कर मनुष्य अपने अन्दर अपार मानसिक और नैतिक बल का संग्रह कर सकता है। प्रथम धारणा तो उस युग की विशिष्टता थी, उस युग के वातावरण में, हवा में वह तैर रही थी और दूसरी धारणा को वर्डस्वर्थ ने रूसो के Back to nature ( प्रकृति की ओर लौट चलो ) वाले नारे से लिया था। प्रकृति और मनुष्य दोनों के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा के भाव थे। वह विश्वास करता था कि दोनों के अन्तराल में एक अनन्त शक्ति का स्रोत छिपा है ( Hiding places of infinite power ); यदि मनुष्य अपने को प्रकृति से शक्ति ग्रहण करने के लिये खुला छोड़ दे ( with a wise passiveness ) तो वह उसे छूकर अनन्त शक्ति-सम्पन्न बना सकती है परन्तु साथ ही वह यह भी नहीं भूल गया था कि यद्यपि प्रकृति को ऐसा कण्ठ-स्वर मिला है कि वह फूंक कर मनुष्य के हृदय को दिव्य शक्ति से समन्वित कर दे, यद्यपि प्रकृति Things fore ever speaking हैं पर मनुष्य की कल्पना ने ही उसे ऐसी दिव्य वाणी दी है। मनुष्य की कल्पना के अभाव में प्रकृति मूक हो जाती है, हमारे जीवन से ही प्रकृति जीवन धारण करती है ( In our life alone does nature live )। अतः यदि प्रकृति की विभूतियों का वरदान प्राप्त करना है कि मानव की कल्पना को सदा जागरित रखना चाहिये, कल्पना वाले व्यक्ति के समीप प्रकृति सादर दौड़ी ही लौट आती है, यदि मनुष्य को प्रकृति से कुछ लेना है तो उसे

दान देने के लिये भी तत्पर रहना चाहिये। पंतजी कहते हैं 'यह लेन देन ही जग-जीवन' दान से ही प्रतिदान जगता है। वर्ड्स्वर्थ के जीवन में ये ही दो दृष्टिकोण थे और उसके हृदय में किसका प्राधान्य हो, कौन उसके हृदय पर अधिकार करे इसके लिये दोनों में संघर्ष रहा करता था। कभी एक उसकी जिह्वा पर बैठ कर अपनी शंख-ध्वनि करने लगता था तो कभी दूसरा अपना विजयोच्चार। पर एक बात कही जा सकती है। जब तक वर्ड्स्वर्थ कालरिज के सम्पर्क में नहीं आया था और कालरिज ने अपने दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण विवरणों द्वारा उसके हृदय को प्रभावित नहीं कर दिया था तब तक वह प्रकृति की अपूर्वता और प्रभविष्णुता से ही प्रभावित था पर उसके सम्पर्क में आने के बाद उसका ध्यान मनुष्य की विधायक कल्पना की दिव्यता की ओर गया और वह उसकी रचनाओं में भी स्थान पाने लगा। Expostulation और The tables turned नामक कविताओं में सबसे प्रधान स्वर इस बात का है कि मनुष्य को प्राकृतिक वायु के स्वास्थ्य-प्रद समय के लिये अपने व्यक्तित्व के सारे वातायन क. उन्मुक्त कर देना चाहिये। जब तक बुद्धि अपने व्यापार में तत्पर रहती है तब तक मानो वस्तु के वास्तविक रूप पर पर्दा डालती रहती है पर जब वह नितान्त अक्रियाशील कर दी जाती है तब प्रकृत वस्तु का रहस्य मनुष्य के स्वच्छंद हृदय पर स्वयमेव दर्पण की तरह चमक उठता है। बाद की कविता में वर्ड्स्वर्थ को व्यक्ति की विधायक कल्पना-शक्ति पर अधिक जोर देते देखा जाता है और प्रकृति के प्रति कुछ औदासीन्य सा पाया जाता है। थोड़े शब्दों में कह सकते हैं कि वर्ड्स्वर्थ की मान्यता यह थी कि इस गौरवशालिनी प्रकृति के साथ मनुष्य की कल्पना के साथ सम्बन्ध होने पर मनुष्य को सुख-शान्ति, धर्म और नीतिमत्ता की प्राप्ति हो सकती है। एक लेखक के शब्दों में To apprehend the world with the insight of 'love and]passion' was to have visions more sublime than erebus and elysium, to be released from sensual impulse and vair frivolity; to have 'blessed consolations in distress', cheer fulness for acts of daily life' and 'peace which passeth understanding' अर्थात् जब मनुष्य संसार पर प्रेम और उमंग की दृष्टि से देखना प्रारम्भ करता है तो उसे स्वर्ग से भी अधिक काल्पनिक आनन्द प्राप्त होता है, उसे ऐन्द्रियता और क्षुद्र अहंता से मुक्ति मिल जाती है, विपत्ति में भी सुख की

अनुभूति होती है, दैनिक कर्त्तव्यों में आनन्दानुभूति होने लगती है और बोधातीत शान्ति की प्राप्ति होती है।

वर्डस्वर्थ के ये दो तरह की विचार धाराएं उसके जीवन में आगे आकर उसके जीवन-सूत्र को हाथ में लेकर उसे संचालित करने के लिये पारस्परिक संघर्ष में निरत थीं। इसका प्रभाव उसके काव्य-विषयक सिद्धान्तों और उसकी शैली पर भी पड़ा है। हम वर्डस्वर्थ के शास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा अलग करेंगे। यहाँ पर इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति के प्रति अपार भक्ति रखने के कारण और प्रकृति के सम्पर्क में रहने के कारण प्रकृति के निकट रहने वाली वस्तुओं के प्रति उसके हृदय में आकर्षण हो गया था। एक नागरिक की अपेक्षा ग्राम-निवासी किसान का जीवन प्रकृति के निकटतर साहचर्य में व्यतीत होता है अतः किसानों के भावों, भावनाओं, उनके रहन-सहन और उनकी भाषा को वह बड़े आदर और सम्मान की दृष्टि से देखता था। किसानों के द्वारा व्यवहृत भाषा उसकी आँखों में एक विचित्र दर्द, अपील और पवित्रता से मंडित मालूम पड़ती थी। दूसरी ओर उसकी विधायक कल्पना इतनी तत्पर थी कि प्रकृत वस्तु पर सोने का पानी फेर उसे अपूर्व लोक की सृष्टि बना देती थी। इस प्रवृत्ति के कारण उसके भाव अपनी अभिव्यक्ति के लिये ऐसी भाषा, सजीव भाषा को लिये आते थे जो साधारण बोल-चाल की भाषा से कहीं उच्च कोटि की होती थी। अतः उसके काव्य में दो तरह की शैलियाँ दीख पड़ती हैं—एक वह जो प्रकृति प्रेमी व्यक्ति के द्वारा प्रेरित है और दूसरी वह जिसकी प्रेरणा उसकी विधायक कल्पना से मिली है। यही कारण है कि वर्डस्वर्थ के आलोचक-वर्ग को जिसमें काल-रिज मुख्य था यह कहने का अवसर मिल गया कि वर्डस्वर्थ के Poetic diction वाले सिद्धान्त में कुछ भी तथ्य नहीं है यहाँ तक कि स्वयं वर्डस्वर्थ ने ही अपनी काव्य-रचना में उन सिद्धान्तों का पालन नहीं किया है।

## वर्डस्वर्थ का काव्य-शास्त्र

ताएं संग्रहीत थीं। इन कविताओं की रचना का उद्देश्य यह था कि शास्त्रीय ( classical) काव्य सिद्धान्तों के शिकंजों में तड़फती हुई काव्य की आत्मा को बंधन मुक्त करने का आदर्श उपस्थित किया जाय और लोगों को यह बात स्पष्ट तौर से बतला दी जाय कि स्वच्छन्द और उन्मुक्त वातावरण में पलकर कविता कितनी स्फूर्ति-प्रदायिनी और बल-संचारिणी हो सकती है। चूंकि इस संग्रह में संग्रहीत कविताएं प्रचलित काव्य प्रवाह से एकदम विपरीत थीं, इनका भाव-पत्त और विभाव-पक्ष दोनों युग-काव्य से विभिन्न थे अतः कवियों ने, विशेषतः वर्डस्वर्थ ने, इस काव्य संग्रह के साथ एक भूमिका भी लिखी जिसमें इस नूतन काव्य-धारा के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया था। इस काव्य-संग्रह की उत्पत्ति के बारे में कालरिज ने स्वयं यह लिखा है "जिस काल में वर्डस्वर्थ और मुझे दोनों को पड़ोस में रहने का अवसर मिला था उसके प्रथम वर्ष में हम लोग कविता के दो प्रमुख तथ्यों के ऊपर प्रायः बातें करते थे—प्रकृति की वास्तविकता की अनुरूपता धारण करते भी काव्य की पाठकों में सहानुभूति की उद्रेक-शक्ति तथा कल्पना के रंग भरने वाली शक्ति जो प्रकृत वस्तु में एक विचित्र नूतनता ला देती है प्रकाश और छाया तथा चाँदन' और सूर्यास्त की आभा के सदृश परिचित प्राकृतिक दृश्य में भी विचित्रता ला देती है। इस बात को देख कर ऐसा करना सम्भव जान पड़ा कि दोनों शक्तियों को एकत्र किया जा सकता है। ऐसी ही कविता प्राकृतिक कविता होगी। अतः विचार में आया कि दो तरह की कवितायें रची जांय। एक में घटनायें और पात्र अंशतः भी, अति प्राकृतिक रहें और उनमें यह विशेषता लाने की कोशिश की जाय कि ऐसी घटनाओं को सत्य मान उनके बीच जो भाव उग सकते हैं उनको दिलचस्प बना कर रखा जाय। ये वास्तविक तो इस अर्थ में हैं ही कि एक अति-प्राकृतिक शक्ति से प्रभावित होने वाले सदा से इसकी सत्यता में विश्वास करते आये हैं—चाहे उनके इस भ्रम का कोई भी कारण हो। दूसरी तरह की कवितायें ऐसी हों जिनका वर्ण्य विषय साधारण जीवन से लिया गया हो। पात्र और घटनायें ऐसी हों जो प्रत्येक ग्राम और आस-पास में भाव-प्रवण और चिंतन-शील व्यक्ति को सहज ही में प्राप्य हों। इस विचार को लेकर Lyrical-Ballads की उत्पत्ति हुई। यह बात तय हुई कि मैं अपना प्रयत्न अति प्राकृतिक, कम से कम, romantic विषयों की ओर केन्द्रित करूँगा और मानव स्वभावोचित ऐसी मानवता के रंग और सत्य की झलक से समन्वित करूँगा कि इनकी ओर सशंक दृष्टि से देखने की पाठकों की प्रवृत्ति स्थगित

हो जाय क्योंकि इस तरह की संशयात्मकता का लोप होना काव्य की पहली शर्त है। वर्डस्वर्थ का उद्देश्य था दैनिक घटनाओं को अपने काव्य का उपजीव्य बनाना, उन्हें एक नूतन लावण्य से समन्वित करना और लोगों के मानसिक शैथिल्य को दूर कर अपनी चारों ओर फैले संसार के सौंदर्य और आश्चर्य की ओर आकर्षित करना जो सदा साथ लगा रहता हो है। परन्तु हम अपने स्वार्थ और "अति परिचयादवज्ञा" के कारण आँखें रहते भी देखते नहीं, कान रहते भी सुनते नहीं और हृदय रहते भी न तो समझते ही हैं न अनुभव ही करते हैं।

लिरिकल बैलेड्स के प्रकाशन के पूर्व काव्य-रचना की जो प्रणाली थी उससे इस काव्य-संग्रह में सम्मिलित कवितायें इस तरह भिन्न थीं कि वर्डस्वर्थ के मित्रों ने इस बात पर जोर दिया कि वह एक ऐसी पुस्तक लिखे जिसमें इस नूतन काव्य-धारा के स्वरूप का और उसके सिद्धान्तों का, उसके आदि स्रोत इत्यादि जैसे विषयों की विस्तारपूर्वक व्याख्या हो और लोगों को काव्य के रसास्वादन में सहायता मिले। यद्यपि वर्डस्वर्थ ने ऐसी कोई पुस्तक तो नहीं लिखी। शायद इस कार्य के सफल सम्पादन के लिये जितनी विद्वत्ता और अध्ययन तथा सूक्ष्म दार्शनिकता की आवश्यकता थी वह उसका अधिकारी नहीं था। ऊपर हम देख भी आये हैं कि उसे ज्ञान और विज्ञान किसी के क्षेत्र में विशेषज्ञता नहीं प्राप्त थी, वह साधारण सतह पर विचरण करने वाला मानव था। कहने के लिये कहा जा सकता है कि उसकी विशिष्टता यही थी कि वह किसी क्षेत्र का विशेषज्ञ नहीं था। पर उसकी इस सहज बुद्धि ने ही यह सुझाया था कि प्रेषणीयता काव्य का मुख्य आधार है, काव्य चाहे और कुछ भले ही न करे पर ग्रहणीय उसे होना ही चाहिये। अतः ऐसी सूरत में जब कि जनता काव्य में एक विशिष्ट प्रकार के भाव और भाषा और विषय को इतने दिनों से ही देखने की अभ्यस्त हो गई हो एक नूतन, एक इस विपरीत वस्तु को कविता कहकर उसके सामने रखना उसकी बुद्धि पर अत्यधिक दबाव देना होगा। तड़क भड़क और भाषा की अलङ्कारिकता पर मुग्ध जन-समूह के सामने लिरिकल बैलेड्स जैसी सीधी सादी निरावरण कविता को रखते समय इसके समर्थन और सफाई के लिये कुछ अपनी ओर से कहना वर्डस्वर्थ ने आवश्यक समझा। कुछ तो इस भावना से प्रेरित होकर और कुछ पुस्तक के सम्बन्ध में की गई कटु कठोर आलोचनाओं के उत्तर देने के लिये इसके द्वितीय संस्करण में १८०० में उसने एक भूमिका लिखी जो Preface के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उसने तत्कालीन काव्य पद्धति की

आलोचना की, उसकी असंगतियों को दिखलाया और बतलाया कि इस संग्रह की कवितायें किन-किन बातों में उनसे भिन्न है, भिन्नता का कारण क्या है और इस भिन्नता के कारण काव्य की कहाँ तक वृद्धि होनी है। इसके द्वारा हमें उन सिद्धान्तों का ज्ञान होता है जो रोमांटिक काव्य के प्रधान आधार स्तम्भ हैं। लिरिकल वैलेड्स की भूमिका को, Preface को हम रोमांटिक काव्य का बाइबिल कह सकते हैं।

पहले यह देखा जाय कि लिरिकल वैलेड्स में संग्रहीत कवितायें प्रचलित कव्य-धारा से किन-किन बातों में भिन्न थी। प्रथमतः इनमें साधारण ग्राम्य जीवन (humble and rustic life) की घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन किया गया था और इस बात का प्रयत्न किया गया था कि इनमें ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाय जो साधारणतः लोगों के द्वारा व्यवहार में लाई जाती है। इन साधारण जीवन की साधारणघटनाओं पर रंग चढ़ाकर ( by throwing over them certain colouring of imagination ) उन्हें काव्यात्मक बना दिया गया है।

सब से पहले ग्राम्य और साधारण जीवन की काव्यात्मक उपयोगिता पर विचार कीजिये। साधारण और ग्राम्य जीवन से ली गई घटनाओं और पात्रों में काव्य-वस्तु बनने की कहाँ तक क्षमता है? वर्डस्वर्थ ने अपनी कविता के लिये अपने ही प्रदेश अर्थात् कम्बरलैंड के लेक डिस्ट्रिक्ट के लोगों और उनसे सम्बन्धित घटनाओं को ही आधार बनाया था। ( यही कारण है कि वर्डस्वर्थ और उसके मित्र कालरिज और साउदे के द्वारा रचित काव्य की लेक-सम्प्रदाय का काव्य कह कर पुकारा जाता है। ) इस बात को लेकर आलोचकों ने भारी तूफान उठाया था और तरह तरह से वर्डस्वर्थ की भर्त्सना की थी। पर वर्डस्वर्थ अपने मत पर चट्टान की तरह दृढ़ रहा।

वर्डस्वर्थ का तर्क यह था कि आखिरकार कवि का काम तो यही है न कि मानव हृदय की मौलिक वासनाओं की वास्तविकता का चित्रण करे। इन मौलिक वासनाओं का वास्तविका स्वरूप क्या है, इसका पता कैसे चले? मनुष्य पर तो जाति, धर्म और सामाजिक विचार धाराओं की इतनी तहें जम गई हैं कि इन्हें झाड़ पोंछकर विशुद्ध मानव का पता लगाना असम्भव है। पर हम कल्पना के द्वारा ऐसी मानसिक स्थिति में हो सकते हैं कि विशुद्ध मानव और उसकी वासनाओं की झलक पा सकें। आप अपनी कल्पना के सामने किसी मनुष्य को रखें और उस पर पड़े जितने संस्कार हैं उनको अपनी बुद्धि की परिमार्जनी से

साफ करते जाइये तो आप एक संस्कारहीन विशुद्ध मानव के बहुत समीप अपने को पायेंगे। यदि आप इस ओर अग्रसर होंगे तो आपको यह बात स्पष्ट हुए बिना न रहेगी कि एक नागरिक का जीवन अधिक से अधिक कृत्रिम होता है, वह प्रकृति के सहचर्य से अधिक दूर रहता है। परिणाम होता है कि उसके रहन सहन का ढंग, खान-पान का ढंग, वेष-भूषा और साज-सज्जा का ढंग ऐसे नहीं होते जो प्रकृति के द्वारा मिले हों। प्रकृति के संकेत द्वारा जो वस्तु उन्हें स्वाभाविक रूप से मिलनी चाहिये और उनके जीवन में घुल मिल कर तदाकार हो जानी चाहिए वह नष्ट हो जाती है और उसके स्थान पर नागरिक जीवन के अनुरोध पर आई हुई बनावट और कृत्रिमता आ विराजती है। वह तरह तरह की आदतों, तहज़ीबों और बनावटी नियम और कानूनों का शिकार हो जाता है। इन परिस्थितियों के कारण बलवान और निर्बल लोगों में प्रति स्पर्द्धा की भावना जगती है, आर्थिक वैषम्य की उत्पत्ति होती है, ऊंच नीच, जाति-पाँति के भेद, पाप और दरिद्रता इत्यादि साथ में आते हैं। आज जो नारकीय समस्याएँ संसार के सामने खड़ी हैं वे सब मानवकृत हैं, प्रकृति प्रदत्त नहीं। जिस दिन मनुष्य ने अपने जीवन-सूत्र का संचालन प्रकृति के हाथों से ले लिया उसी दिन उसके इन विपत्तियों का प्रवेश प्रारम्भ हुआ। ज्यों ज्यों सभ्यता हमारे जीवन में प्रवेश करने लगी वह अपने साथ मनुष्य की सारी विपत्तियों को भी लेती आई।

प्लेटो और रूसो की भी विचारधारा ऐसी ही थी। आज भी भारतवर्ष में ऐसे मनीषियों का दल है जो इस विचार अर्थात् 'the descent of man' ( मनुष्य के पतन ) में विश्वास करता है। उनका विचार है कि मनुष्य समय के प्रवाह के साथ बराबर ह्रासोन्मुख होता जा रहा है। हमारे यहाँ भी वैदिक सभ्यता की जय-ध्वनि करने वाले लोग हैं जो उस युग की सभ्यता को आदर्श मान कर चलते हैं और उस युग के पुनर्स्थापन के लिये लालायित रहते हैं। "सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग" की भावना भी कुछ इसी The descent of man वाले सिद्धान्तों से मिलती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण इसके ठीक विपरीत है जो मनुष्य के उत्थान ascent of man वाले सिद्धान्त में विश्वास करता है और कहता है कि पाशविक प्रवृत्तियों से मुक्त होता हुआ मानव उत्तरोत्तर बुद्धि के सम्पर्क में आता हुआ उन्नत हो रहा है। कौन सा दृष्टिकोण समीचीन है इस पर विचार करना अभीष्ट नहीं। ध्येय केवल इतना ही कहना है कि वर्ड्सवर्थ प्रथम सिद्धान्त में विश्वास करता था। वर्ड्सवर्थ का कविता शीर्षक

लेख जो ऊपर उद्धृत है उनके देखने से प्रकृति की प्राणदायिनी शक्ति में वर्ड्स्वर्थ का कितना विश्वास था यह स्पष्ट हो जाता है। Childhood नामक कविता अथवा Ode to the intimation of imortality नामक कविना मे भी यही बात मालूम पड़ती है। साथ ही साथ जब वह अपने हृदय में आह भर कर कहता है कि what man has made of man तब उसके मानव के पतन वाला विचार भी स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता।

दूसरी ओर एक ग्राम निवासी किसान का जीवन प्रकृति के साहचर्य में अधिक व्यतीत होता है। नैसर्गिक रूप मे जिस प्रकार का जीवन होना चाहिये उसी के अनुरूप उसके जीवन का संचालन होता है। सभ्यता के कृत्रिम बोझ से दबे नहीं रहने के कारण उसको अपनी चाल को टेढ़ी मेढ़ी नहीं करना पड़ता, उसकी प्राकृतिक और जन्म जात प्रवृतियों का रूप अधिक विकृत नहीं होने पाता और उन्हीं के द्वारा उसका जीवन-सूत्र मुख्यतः संचालित होता रहता है। उसकी आदतें, चाल ढाल वगैरह भी अपनी प्राकृतिक प्रवृतियों के अनुरूप होती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का प्राकृतिक जीवन स्रोत जीवित रह कर उसके जीवन को सिंचित करता रहता है। ऐसी ही अवस्था में शारीरिक अथवा मानसिक अथवा नैतिक शक्ति का अधिक से अधिक स्वस्थ विकास सम्भव है। ऐसी ही सूरत में विशुद्ध मानवोचित भावनाओं को परिस्फुटित होने के लिये उर्वर मिट्टी मिल सकती है। वर्ड्स्वर्थ के शब्दों में "In that condition the essential passions of human heart (which supply the subject of poetry) findsa better soil in which they can attain maturity" अर्थात् इस परिस्थिति में ही काव्य के आधारभूत मानव-हृदयस्थ प्रधान भावनाओं को परिस्फुटित होकर परिपक्वावस्था तक पहुँचने के लिये उपयोगी जमीन मिल सकती है।" विचार करने पर जब ग्राम्य-जीवन में इतनी काव्य की सामग्री मिल सकती है तो इसे छोड़ कर काव्य के लिये अनुपयुक्त सामग्री को हम जान बूझ कर काव्य का आधार क्यों बनायें। हम आज तक देवी-देवताओं, राजा-महाराजाओं की प्रशस्ति गाते रहे। अब हम किसानों, हलवाहों और प्रकृति के गुणगान में प्रतिभा को लगायें। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि के शब्दों में :—

नालन्दा वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार
धूसर भुवनस्वर्ग ग्रामों में कर पाई न विहार

itlessly के स्थान पर fruitless शब्द का प्रयोग किया गया है जो इस अंश में दोष ही कहा जा सकता है" हम आगे बढ़ें और वर्डस्वर्थ के द्वारा उद्धृत इस कविता की इस पंक्ति को देखें Reddening Phoebus lifts his golden fire" और विचार करें। इसमें Poetic Diction का पूरा आतंक है। कवि यह कहना चाहता है कि सूर्योदय हो रहा है। पर वह कहता है कि उषाकाल का प्रकाश कोई फेबस नामक व्यक्ति के द्वारा उत्पन्न किया जाता है जो ऐसे आवरण को उठाता है जिसमें पीली लपटें उठ रही हैं और ये लपटें फेबस के मुख-मण्डल पर पड़ कर उसे रक्ताभ कर देती हैं। इस अलंकारिकता से कविता में कौन सा सौंदर्य आ गया पाठक ठीक से नहीं समझता। इसी तरह की काव्यात्मक शैली (Poetic diction) से आतंकित उस युग के साहित्य को अपनी प्रकृत-भूमि पर लाने के लिये वर्ड-स्वर्थ ने अपने भाषा विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।

अब दूसरे प्रश्न को लीजिये कि ग्राम्य-जीवन में ग्राम-निवासियों के द्वारा प्रयुक्त भाषा ही काव्य की भाषा हो सकती है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में भी वर्डस्वर्थ के सिद्धान्त स्पष्ट हैं। कवि दो तरह के साधनों से अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। प्रथम को नाटकीय और दूसरे को वर्णनात्मक ढंग कह सकते हैं। नाटकीय साधन उसे कहते हैं जिसमें कवि अपने पात्रों के द्वारा उनके हृदयस्थ भावों को अभिव्यक्त करता है। वर्णनात्मक ढंग वह है जिसमें वह स्वयमेव बोल कर अपने भावों को प्रगट करता है और सीधे पाठकों के सम्पर्क में आता है। प्रथम साधन में तो आलोचकों में कोई मतभेद का अवसर है ही नहीं। सब कोई इस बात को स्वीकार करते हैं कि भाषा पात्रों की स्थिति के अनुरूप होनी चाहिये। पात्र सैनिक हो सकते हैं, नाविक हो सकते हैं, किसान हो सकते हैं, शिक्षित हो सकते हैं या अशिक्षित। पर उनका कण्ठस्वर उनकी जाति की अनुरूपता लिए हुए होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो उसमें कृत्रिमता की गंध आयेगी और उसमें वह तादात्म्य और साधारणीकरण संभव न हो सकेगा जो काव्य की रसनाभूति के लिये परमावश्यक है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों से यह बात छिपी न होगी कि प्रसाद जी नाटकों की आलोचना करते समय सब आलोचकों ने यह कहा कि उनके नाटकों में सबसे बड़ा दोष यह है कि उनके सब पात्र चाहे राजा हो या मन्त्री, चाहे एक मूर्ख लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर हो सबके सब एक तरह की ही पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत-गर्भित भाषा का व्यवहार करते हैं और पाठकों में Willing suspension of disbelief का अवसर कम कर देते हैं। यदि ऐसे अवसरों

पर पात्रों की भाषा में उनकी स्थिति की अनुरूपता का समावेश किया जाता है उसे Real man (सच्चे मानव) को ही Language (भाषा) कहा जा सकता है। पर जब वर्णनात्मक साधन के प्रयोग का अवसर आता है तो आलोचकों में मत-विभिन्नता आ जाती है। वर्डस्वर्थ के भाषा विषयक सिद्धान्तों के जो विरुद्ध थे उन आलोचकों का कहना यह था कि ऐसे अवसर पर कवि की भाषा काव्यात्मक शैली (Poetic diction) की विशिष्ट भाषा होनी चाहिये। पर वर्डस्वर्थ इसके विरोध में आवाज उठाते हुए कहता है "The poet thinks and feels in the spirits of human passions, why should then his language differ from that of other men who think and feel in the same way" अर्थात् कवि की भी विचार धारा और भाव धारा मानवीय वासनाओं के अनुरूप होती है। वह उसी तरह सोचता है जिस तरह साधारण मनुष्य। तब उसकी भाषा भी अपने ही समान सोचने और अनुभव करने वाले व्यक्तियों से विभिन्न क्यों हो?

कवि का कर्त्तव्य है अभिव्यक्ति। और वह अभिव्यक्ति ऐसी हो जो सीधे और जल्द से जल्द पाठकों के हृदय में उतर आये। इसके लिये, भावों की गहराई और भव्यता को पाठकों के हृदय खण्ड से संयुक्त कर देने के लिए सीधे सादे शब्द ही समर्थ हो सकते हैं। भाषा की अलंकारिकता और तड़क-भड़क तो एक विजातीय द्रव्य की तरह है जो पाठक के ध्यान को इधर उधर ले जा कर वर्ण्य वस्तु के रूप सौन्दर्य को मलिन कर देती है। कविता कुछ इस तरह की हो जाती है जैसे अधिक पानी डाला गया शर्बत जिसका स्वाद फीका फीका सा लगता है। अतः यह बात निश्चित होती है काव्य में यथा संभव साधारण-सुलभ भाषा का ही प्रयोग होना चाहिये।

कविता के क्षेत्र को महत्वपूर्ण विषयों तक तथा उसकी अभिव्यक्ति को Poetic diction तक ही सीमित कर रखने की प्रवृत्ति ने किस तरह लोगों के हृदय में प्रवेश किया इसका भी विवेचन लिरिकल बैलेड्स की भूमिका में किया गया है। इस विवेचन का सारांश यह है कि प्राचीन काल में कवि जब किसी वास्तविक घटना के सम्पर्क में आकर उत्तेजित हो उठता था तब उसके हृदय के उद्गार कविता के रूप में निकल पड़ते थे और उनके हृदय के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति उनकी स्वाभाविक भाषा में होती थी। स्वाभाविक मतलब वैसी भाषा से जिसका व्यवहार कवि करता हो अथवा उसके लक्ष्यीभूत पाठक करते हों। कवि के हृदय के स्वाभाविक वेग से ही भाषा का सृजन होता था। चूंकि वह स्वतः प्रसूत होती थी, हृदय के

स्वाभाविक भावों और विचारों की मांग के बल पर ही उसकी सृष्टि होती थी, कवि जो कुछ सोचता था, विचारता था उसके प्रति अपने काव्य में भी वफादार रहता था अतः उसके काव्य में भी लोगों के हृदय को प्रभावित करने की शक्ति होती थी। कविता हृदय से निकल कर हृदय में बैठती थी। उसका साधन भी हृदय था, लक्ष्य भी हृदय था। पर आगे चलकर वैसे अनधिकारी व्यक्ति भी कविता के क्षेत्र में पदार्पण करने लगे जिनमें प्राचीन कवियों की तरह हृदय के अंतस्तल को भेद कर उछल पड़ने वाली भाव-धारा तो न थी पर कविता से जो प्रभाव उत्पन्न होता है उसको लाने की उनके हृदय में लालसा थी। उन्होंने देखा कि प्राचीन कवियों के काव्य में कुछ ऐसे शब्द, वाक्यांश, अलंकार इत्यादि का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है जिनमें कवित्व का निवास है, जिनको पाकर पाठक मुग्ध हो जाता है। बस उन्होंने समझा कि उन्हीं वाक्यांशों, शब्दों और अलंकारों इत्यादि का अथवा उन्हीं के नमूने पर नूतन निर्मित शब्द इत्यादिकों के प्रयोग कर देने से पाठकों के हृदय पर प्रभावोत्पन्न करने वाले अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है। वास्तविक प्रेरणा के अभाव में उनके लिए दूसरा चारा भी नहीं था। उन्होंने समझ लिया कि उनके विचार भले ही कृत्रिम हों, भावों में सच्चाई का अभाव भले ही हो, पर जब तक उनका काव्य-शरीर बाह्य अलंकारों से सुसज्जित है, काव्य के पद-चिन्हों का अनुकरण किया गया है तब उसका उत्पन्न प्रभाव भी काव्योचित ही होगा। साहित्य के क्षेत्र में इस तरह का युग प्रथमबार केवल १८वीं शताब्दी में ही नहीं आया था। दिल में दर्द होता है तो आदमी कलेजा थाम लेता है अतः कलेजा थाम कर दिल में दर्द उत्पन्न करने वाले कवि समय समय पर होते आये हैं। Renaissance पुनर्जागृति की अदम्य और मौलिक प्रेरणा ने इंगलिस्तान के साहित्य-क्षेत्र को एलिजाबेथन युग के दिव्य और ज्योतिपूर्ण रत्नों से सौन्दर्य पण्डित कर दिया था। पर आगे चल कर ऐसे यश-लोलुप पर प्रेरणाहीन कवियों का आगमन हुआ जिन्होंने एक विशिष्ट परम्परागत प्रणाली के निर्जीव अनुकरण को ही कवित्व की मुख्य शक्ति समझा और इटालियन साहित्य में प्रयुक्त कुछ प्रणालियों के अनुकरण में ही निरत रहने लगे। इस प्रवृति के श्वासावरोधक वातावरण से ऊबी मानवात्मा ने ऊब कर लेटिन और ग्रीक के साहित्योद्यान से कुछ ताजे और स्फूर्तिदायक फल फूल तोड़ कर अपने यहाँ लगाने का प्रयत्न किया। जिसे हम अंग्रेजी साहित्य में रेस्टोरेशन (Restoration) युग के काव्य के नाम से पुकारते हैं वह ऐसी मानवात्मा की सृष्टि है जो घर की चहारदिवारी से ऊब कर बाहर

किसी उद्यान में जाकर विचरण करती है। पोप और ड्रायडन इत्यादि ने यही किया। उन्होंने Classical style की भव्यता और सौन्दर्य की योजना करनी चाही पर मौलिक प्रेरणा के अभाव में उनका प्रयत्न एक भद्दा अनुकरण के रूप में ही परिणत होकर रह गया। आगे चलकर उस युग के साहित्यिक डिक्टेटर जानसन ने तो कविता के पैर को अच्छी तरह जकड़ दिया कि बिचारी चाहने पर भी तड़फड़ा न सके। वर्ड्सवर्थ का कहना यह था कि उसने इस तरह के अत्याचार के विरुद्ध मानवात्मा ने विद्रोह का झंडा उठाया है जिसका परिणाम Lyrical Ballad में संग्रहीत कविता के रूप में हुआ।

इस कविता में प्रयुक्त भाषा और काव्य के उपजीव्य वस्तु के निर्वाचन का विवेचन तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक हम उसे काव्य जिज्ञासा के कुछ मूल तत्वों से सम्बद्ध करके न देख लें। वे मूल तत्त्व क्या हैं? कवि पद का अधिकारी कौन है, कवि का वास्तविक स्वरूप क्या है, कवि में और साधारण व्यक्ति में क्या अन्तर हैं, काव्यानुभूति और दूसरे तरह की अनुभूतियों में क्या अन्तर है, काव्य के सृजन करने के समय कवि की और पढ़ने के समय पाठक की मानसिक स्थिति कैसी रहती है इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में इन मूल तत्वों का पता चलता है। वर्ड्सवर्थ ने अपने काव्य-संग्रह की भूमिका मात्र लिखी थी अतः इन प्रश्नों का ब्योरेवार उत्तर तो वहाँ नहीं मिल सकता। हाँ, यत्र-तत्र उसके बिखरे विचार अवश्य मिलते हैं जिनके आधार पर उसके एतद् सम्बन्धी विचारों की रूप रेखा तैयार की जा सकती है।

कवि क्या है, कविता क्या है और कविता के सृजन में मानस व्यापार का स्वरूप क्या है? कवि कोई दिव्य लोक का निवासी नहीं, वह इसी लोक का जीव है। जिस तरह साधारण मनुष्य में दूसरों के हृदय की बात जान और अपने हृदय की बात दूसरों पर प्रगट कर अपने व्यापकत्व की अनुभूति प्राप्त करने की लालसा होती है वही लालसा कवि को भी काव्य-रचना में प्रवृत्त करती है। शेक्सपियर, शेली, कीट्स इत्यादि भी मनुष्य वर्ग के जीव हैं पर मनुष्य वर्ग के सब जीव तो कवि हो नहीं जाते। इसका क्या कारण है? कवि का हृदय स्पन्दनशील होता है। वह द्रष्टा है, उसमें किसी वस्तु के वास्तविक तत्व और रहस्य को देख और पहिचान लेने की स्वाभाविक शक्ति होती है। वह किसी वस्तु और घटना पर अधिक व्यापक और गम्भीर दृष्टि डाल सकता है। कहा भी है कि जहाँ न जाय रवि वहां जाय कवि। किसी घटना को अपने

Proper perspective में रख कर, भूत, भविष्य और वर्त्तमान से उसके पारस्परिक संबंध में सम्बद्ध कर कवि देखता है। मनुष्य हृदय के प्रवेगों और भावनाओं से उसका इतना अधिक परिचय रहता है कि संसार के अणु अणु और परमाणु परमाणु तक में वह जीवन के स्पन्दन का दर्शन करता है। उसके लिये सारा संसार एक विचित्र प्राणों के वेग लिये थिरकता रहता है। कोई वस्तु तुच्छ नहीं, सब में वही विद्युत धारा का प्रवाह प्रवाहित हो रहा है और सारा विश्व मानो समवेत स्वर से उसी आधार शक्ति की जय ध्वनि कर रहा है। आप थोड़ी देर के लिये एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिये जिसका जन्म उसकी आंखों पर हरे चश्मे के साथ हुआ है। सारा संसार उसके लिये हरा ही दृष्टिगोचर होगा। उसी तरह मानव जीवन के आवेग और प्रवेग की छाप कवि के हृदय पर इतनी गहरी पड़ी रहती है कि सारे संसार पर उनकी ही झलक उसे दिखलाई पड़ने लगती है। उसके लिये वन के वासन्ती बयार की एक सांस, एक पत्ती की ध्वनि में सारे ऋषियों और मुनियों की ज्ञान-गाथाओं से कहीं अधिक जीवन सन्देश की उपलब्धि होती है।

One umpulse from a vernal wood
May teach you more of man
of moral evil and of good
Than all the sages can.

वह प्रकृत वस्तु में अति-प्राकृत्य देखता है, इस स्थूल बाह्य नाम रूपात्मक जगत में वह सूक्ष्म तत्व का दर्शन करता रहता है और इसी सूक्ष्म और रहस्य-मय तत्व को प्रकाशित करने के लिये उसकी लेखनी चंचल हो उठती है।

साथ-ही-साथ कवि में ऐन्द्रियता भी अधिक होती है। मतलब यह है कि उसकी इन्द्रियों में साधारण मनुष्य से अधिक ग्रहणशीलता होती है। किसी प्रकृत वस्तु का प्रभाव उन पर अधिक पड़ता है। उसके हृदय में आश्चर्य, हर्ष, विषाद, अनुराग और विराग इत्यादि का उत्थान इतने प्रबल वेग से होता है कि जब तक वह उन्हें दूसरों के हृदय में उतार नहीं देता उसके हृदय का बोझ हल्का नहीं होता, उसे चैन नहीं मिलता।

कवि में अपने भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति भी अधिक होती है। यह उसकी प्रधान विशेषता है जिसके अभाव में बहुत से मनुष्य मूक कवि बने रहते हैं। कविता और विज्ञान दोनों ही सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं। पर जहाँ विज्ञान अभिव्यक्ति साधारणत्व की भाषा में होती है, निर्लेप होती है, मनुष्य की भावनाओं से उसका कुछ भी सम्पर्क नहीं होता, वह हमारी

बुद्धि के द्वार को खटखटाती है वहाँ काव्य की भाषा विशिष्ट होती है, हमारी इन्द्रियों और अन्तस को ग्राह्य होती है और वह हमारे प्रसुप्त भावों को जगाती है। पर यहाँ इस बात को याद रखना चाहिये कि ऊपर कवि की जिन तीन विशिष्टताओं अर्थात् सूक्ष्म-दर्शिता, ग्रहणशीलता और अभिव्यक्ति कौशल की चर्चा की गई है वे परिश्रम-साध्य नहीं होती, उन्हें मनुष्य परिश्रम कर अपने प्रयत्नों के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। वे उसके हृदय में स्वाभाविक रूप में विकसित होती हैं जिस तरह पृथ्वी के गर्भ की आद्रता ही निर्झर-स्रोत के रूप में फूट पड़ती है।

वर्ड्स्वर्थ ने कविता की परिभाषा यों की है "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feeling; it takes it origin from emotions recollected in tranquillity" प्रवल वेगवती भावनाओं की स्वाभाविक उमड़न ही कविता का रूप धारण करती है और प्रशान्त क्षणों में स्मृत मनोवेगों से ही इसकी उत्पत्ति होती है।" इस परिभाषा के उत्तरार्द्ध पर विचार कीजिये। "प्रशान्त क्षणों में स्मृत मनोवेगों से ही उसकी उत्पत्ति होती है" इससे एक बात स्पष्ट होती है कि प्रकृत वस्तु या घटना की प्रति-क्रिया की तात्कालिक अभिव्यक्ति ही कविता नहीं है जैसी कि गलत धारणा कुछ लोगों में प्रचलित है। उस तात्कालिक परिस्थिति में जिस वस्तु की अभिव्यक्ति मिलेगी वह स्वानुभूति भले ही हो सहानुभूति नहीं, प्रत्यक्षानुभूति भले ही हो रसानुभूति या काव्यानुभूति नहीं हो सकती। उस समय की अभिव्यक्ति से इतने विरोधी तत्वों का समावेश रहता है और वे इस तरह से अपने रूपों का प्रत्यक्षीकरण करते रहते हैं कि पाठक के हृदय को अपने प्रति- क्रिया-शील करने में सक्षम हो ही नहीं सकते। इसको यों समझिये। कोई भूमि खण्ड पर एक विशाल शिलाखण्ड चिपका पड़ा हुआ है। उसके चारों तरफ जल का स्रोत बह रहा है पर शिला-खण्डाच्छादित भूमि पर वह रुका सा है। आपने अपनी सारी शक्ति लगा कर उस शिलाखण्ड को उत्पाटित किया। उस समय चारों ओर के पानी का प्रवाह इतने वेग से आकर उसमें भरने लगेगा कि आप के लिये उस जल-प्रवाह को पहचानना कठिन हो जागया। कुछ देर के पश्चात् जब उसमें जल भर लेगा, उसमें स्थिरता आ जायेगी, जल का गदलापन जम कर उसमें स्वच्छता आ जायेगी तभी आपकी आँखें उसे देखकर तृप्ति-लाभ कर सकती हैं। अर्थात् तभी उससे हम रसानुभूति ग्रहण करने की अवस्था में हो सकते हैं। कविता पर विचार करते समय यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति कभी नहीं है और

न कवि का कर्त्तव्य ही प्रत्यक्षानुभूति कराना है। यदि उसके काव्य से आपके हृदय में प्रत्यक्षानुभूति की अवस्था उपस्थित होने लगी तो वह कवि अपने कर्म से च्युत समझा जायेगा। कल्पना कीजिये कि आप प्रेक्षागृह में एक नाटक देख रहे हैं। एक अत्याचारी के अत्याचार को देखकर आप इतने क्रोधोन्मत्त हो गये कि आप उस पर जूते चला बैठे। यह परिस्थिति कभी भी काव्योचित नहीं होगी।

अतः वर्डस्वर्थ का कहना है कि प्रत्यक्षानुभूति की दशा में काव्य का सृजन नहीं हो सकता। कविता तो सृजन है। प्रत्यक्षानुभूति की अवस्था में सृजन का अवकाश ही कहाँ रहता है? अतः काव्य के प्रणयन के अवसर पर जो मानसिक व्यापार होता है उसका विश्लेषण करने पर ये बातें मालूम पड़ती है।

कवि तो एक अधिक स्पन्दनशील और ग्रहणशील विशिष्ट जीव की तरह होता ही है। किसी वस्तु के या घटना के सम्पर्क में आते ही प्रबलतम रूप में उसके प्रति कवि का हृदय प्रतिक्रियाशील हो उठता है। वह एक तरह अभिभूत हो जाता है। उसमें उस सयम सृजन की शक्ति नहीं रहती। यह प्रतिक्रिया का वेग आता है और चला जाता है। पर कवि पर अपनी गहरी लकीर छोड़ जाता है। वह कवि में एक विशेष Sensiniveness की छाप छोड़ जाता है। जिस तरह अपने-अपने कपड़े को iron करके एक विशेष प्रकार का तह लगा कर रख दिया। अब उस कपड़े में एक ऐसी विशिष्टता आ जायेगी कि थोड़े से संकेत को पाकर भी उसी तह मे सुविधापूर्वक मुड़ जायेगा। उसी घटना के प्रबल आघात का परिणाम यह होता है कि थोड़ी सी स्मृति भी कवि के मस्तिष्क में उस घटना को तथा उससे सम्बद्ध सारे मनोवेगों को ला उपस्थित कर देती है। परिस्थिति की थोड़ी सी अनुकूलता पाते ही फुरसत के अवसर पर सारी बातें जागृत हो जाती है। अंतःचक्षु के सामने बिजली की तरह चमक उठती है ( Flashes on his inward eye ) और सम्बन्धित सारे राग, विराग अनुराग इत्यादि की भावनाओं को लिये आती है। ये भावनायें अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये उसे इस तरह प्रेरित करती हैं कि जब तक उनको अभिव्यक्त नहीं करता उसे चैन नहीं होता। एक दिव्य संदेश का उद्घाटन उसे बेताब किये रहता है। वह तफरीहन केवल अपने मनोरंजन अथवा दूसरों के मनोरंजन के लिये नहीं लिखता। वह लिखता है तो इसलिये कि उसके पास संसार को सुनाने के लिये सन्देश होता है। जब वर्ड्स्वर्थ किसी सरोवर तट पर सर हिलाती हुई Daffodils को देखता है, शेली आकाश में

स्वच्छन्द विचरण करने वाली लावा की तान सुनता है, या कीट्स बुलबुल की मधुर ध्वनि पर मुग्ध होता है तो वह प्रत्यक्षानुभूति से अभिभूत हो जाता है, मूक हो जाता है—ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि प्रत्यक्षानुभूति में इतने विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण रहता है कि भावनायें डुबकी पड़ी रह जाती हैं। पर इसका गहरा प्रभाव इन पर पड़ा है और किसी प्रशान्त क्षण में इस घटना की स्मृति जग कर काव्य का रूप धारण करती है।

पर स्मृति भी सूखी पुनरावृत्ति कभी नहीं होती। स्मृति में आधारभूत प्रकृत वस्तु का उतना ही अंश प्रधानतया उपस्थित होता है जिसका हमारे भावों और मनोवेगों से साक्षात् सम्बन्ध रहता है। जितने अवरोधक तत्व होते हैं वे घुल घुल कर दूर हो जाते हैं और उतना ही अंश हमारे सामने आता है जो हमारे मनोवेगों में सजीवता प्रदान कर उन्हें स्फूर्त बनाये रहता है। यह स्मृत अंश पूरा नहीं होता जैसे मिट्टी में पड़ा बीज हो जो स्वयं पूर्ण तो नहीं पर उसमें विकसित होकर एक वृक्ष के रूप में परिणत होने की शक्ति वर्तमान रहती है। पृथ्वी के गर्भ में पड़े बीज को वृक्ष के रूप में विकसित हो वृक्ष के रूप में खड़ा हो जाने की स्वाभाविक प्रेरणा होती है। वह वायु से, जल से और आस-पास से पोषक तत्वों को खींच कर बीज को विकसित कर देने के पूर्ण अवसर देने के लिये लाचार रहता है, यह उसके वस की बात नहीं होती ऐसा करने के लिये वह बाध्य है, वह ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकती। अतः प्रशान्त क्षण में किसी क्षीण संकेत के सहारे स्मृत घटना को पाते ही कवि की उर्वर मस्तिष्क-भूमि अपने व्यापार में क्रियाशील हो जाती है। वह प्रकृत वस्तु के आवश्यक अंशों को तो ले ही आती है, साथ ही साथ प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र से ढूंढ ढूंढ कर ऐसे भावों और विचारों को लाती है जो उत्थित भावों का संस्कार कर पाठकों के सामने सजीव रूप में रख सके। हमारे यहां भी संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने रस-विरोध और रस-मैत्री के सिद्धान्तों का विवेचन किया है और बतलाया है कि किस किस तरह भिन्न-भिन्न रस ही नहीं विरोधी रस भी एक साथ लाये जाकर प्रधान रस के परिपाक में सहायक हो सकते हैं। वीरगाथाकाल के साहित्य को देखने से पता चलता है कि किस तरह वीर-रस के रूप को उभार कर रखने के लिये शृंगार-रस की योजना की गई है। चन्दबरदाई के काव्य-रचना में किस मानसिक व्यापार ने काम किया है इस बात का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि सर्व-प्रथम पृथ्वीराज की वीरगाथा ने चन्द के मस्तिष्क पर प्रबल आघात किया। उस आघात का संस्कार कवि के मस्तिष्क पर जम कर बैठ

गया। वही समय पाकर स्मृत हो कर कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिये बाध्य करने लगा! कवि के मस्तिष्क ने उसकी सफल अभिव्यक्ति के लिये आकाश पाताल के कुलावे को एकत्र कर सामान एकत्र किये। उसने शृंगार-रस की योजना की जो वास्तव में वीर-रस के विरुद्ध पड़ता भी उसकी प्रतिभा की आंच पाकर वीर रस के अनुरूप ढल गया।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि कवि में भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये एक अदम्य प्रेरणा होती है। परन्तु, वे अभिव्यक्त कैसे हों, लोगों के सामने प्रेषणीय कैसे हो सकें? वे तो अमूर्त होते हैं, अरूप होते हैं, उनका कोई रूप होता नहीं कि वे देखे और पहचाने जा सकें। अतः अभिव्यक्ति की प्रेरणा के साथ ही साथ उन्हें उपयुक्त शब्दों में आबद्ध कर मूर्त रूप दे देने की शक्ति भी लगी आती है। इसी शक्ति के सहारे कवि अमूर्त भावों और विचारों को शब्दों द्वारा निर्मित काव्योचित रूप विधान कर ऐसे इन्द्रिय-ग्राह्य और स्थायी रूप में रख देता है कि उनका उपयोग सुविधा-पूर्वक अधिक काल तक किया जा सके। कहने का अर्थ यह कि भाव और विचार कवि के मस्तिष्क में मूर्त चित्रों और रूपों के रूप में स्वयमेव उपस्थित होते हैं ठीक उसी तरह जिस तरह वसन्त का आगमन अपने स्वरूप को प्रगटित करता हुआ लताओं को गदराता हुआ, कलियों को चटकाता, भ्रमरों को गुंजारित करता और कोयल को मुखरित करता आता है। इसके लिये उसे किसी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी को अंग्रेजी में कहा जाता है कि Poetry is thinking in pictures अर्थात् चित्रमय विचार ही काव्य है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविता बनाने की वस्तु नहीं है, विकसित होने की वस्तु है। 'बनाने' में श्रम की भावना, मनुष्य के अपने कृतित्व की भावना लगी हुई है। कवि काव्य की रचना करता है इसमें यह भाव लगा हुआ है कि काव्य की रचना कवि के इच्छाधीन है जब चाहे तो वह रचना करे जब चाहे नहीं करे। पर वर्डस्वर्थ का कहना है कि नहीं, कविता स्वयमेव उद्भूत होती है, वह जब उत्पन्न होती है तो प्रगट हुए बिना रह नहीं सकतीं, उसे रोकना और दूसरा रूप देना कवि के लिये आत्म-हत्या के समान होता है। किसी बाह्य वस्तु के सम्पर्क में आते ही कवि की सृजनात्मक प्रेरणा Creative umpulse) इस तरह उद्बुध हो जाती है कि प्रकृत वस्तु में प्रवेश कर उसे तद्सम्बन्धी अनेक सहायक विचारों के रूप में विकसित कर देती है और वह एक अनेक बन्धों में बंधी कविता का रूप धारण कर लेती है। मानो

प्रकृति का जीवन एक बीज में प्रवेश कर उसे अनेक शाखा-प्रशाखाओं, फल और फूलों वाले वृक्ष के रूप में परिणत कर ही दम लेता है।

अतः यह सृजनात्मक प्रेरणा Creative Impulse (Time spirit) कवि में मुख्य वस्तु होती है। यह उसकी अपनी विशिष्टता है। इतनी बात निश्चित् हो जाने के पश्चात् प्रश्न यह होता है कि यह सृजनात्मक प्रेरणा आती है कहां से? रोमांटिक विचार-धारा के जितने कवि हैं—वर्ड्स्वर्थ, कालरिज, शेली, कीट्स उन सब लोगों का कहना है कि इस शक्ति का मूल सारे जगत के मूल में स्थित आदि प्रेरक शक्ति में है। इस शक्ति के आदि स्रोत को कवि के अर्द्ध चेतन मस्तिष्क की गहराई में ही ढूंढना ठीक नहीं। इसकी जड़ और भी गहरी है वह पाताल तक गई हुई है। वह आदि शक्ति जो विश्व के ज़र्रे ज़र्रे में जीवन की ज्योति जागरित किये रहती है, सब जड़ और चेतन को एक जीवन-सूत्र में ग्रंथित किये रहती है वही कवि के मस्तिष्क में उग कर वहां पर विविध प्रकार के भावों और विचारों के सृजन में तत्पर कर देती है, मानो युगकी स्पिरिट(Time Spirit) ही कवि के हृदय को सर्वोत्तम साधन पाकर वहां प्रवेश करता है और वहीं से उसकी वाणी के द्वारा अपना जयोच्चार कर उठता है। कवि अपने छोटे से व्यक्तित्व में उस युग की आत्मा का भार लिये फिरता है। उस वातावरण और परिस्थिति की वायु में परिव्याप्त संदेश की प्रेरणा से प्रेरित होकर उसकी वाणी मुखरित हो उठती है। यही कारण है, जो कवि किसी अतीत युग की घटना को अपने काव्य का आधार बनाता है उसमें प्रभावोत्पादक सच्चाई और स्वाभाविकता नहीं आ सकती। होमर ने स्वकालीन ग्रीक विचार-धारा का वर्णन किया है, दाँते ने काथोलिक इटली, मिल्टन ने प्युरिटन इंग्लैण्ड की स्पिरिट को अभिव्यक्त किया है। ये कवि उसी युग में पले थे, उसी की वायु में सांस लेते थे, उसकी मिट्टी से उनके जीवन तन्तु का निर्माण हुआ था जिस युग की भावनाओं को इन लोगों ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि विरजिल और टासो की कविताओं में कला की बारीकी की प्रधानता का दर्शन भले ही हो पर वहां पर उस मौलिक सच्चाई, स्वाभाविकता और दिल पर चोट करने वाले दर्द का अभाव खटकता है क्योंकि इन कवियों ने एक ऐसे अतीत युग को काव्य का उपजीव्य बनाया है जिसके बारे में उनका साक्षात ज्ञान नहीं था। उस युग की कुछ बातें उन लोगों ने सुन रखी थीं और उसी के सहारे वे अपनी कल्पना के द्वारा उसका पुनर्निर्माण करना चाह रहे थे। ऐसी सूरत में उनकी वाणी में वह तेज और ज्योति कैसे

आ सकती है जो युग-ध्वनि (Time spirit) से उद्दीप्त कवि की वाणी का शृंगार होती है।

कविता के इस स्वाभाविक, स्वतः प्रसूत और कवि के हृदय से निकली चित्रमय भाषा का रूप धारण करने वाले सिद्धान्त में आस्था रखने वाले व्यक्ति को समझाना' कठिन नहीं है कि स्वाभाविक और स्वतः प्रसूत विचारों की अभिव्यक्ति उसी भाषा में हो सकती है जो मनुष्य के लिये स्वाभाविक हो। स्वाभाविक भाषा वही होती है जिसका प्रयोग कवि तथा उसके वर्ग के लोगों के द्वारा दैनिक रूप में होता हो साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि जीवन के गम्भीर सत्यों की अभिव्यक्ति के लिये साधारण ग्राम्य निवासियों के जीवन की घटनायें भी उतनी ही उपयुक्त हैं जितनी और किसी प्रकार की घटनायें या वस्तु हो सकती हैं। रोमांटिक कवि फारसी कवियों की तरह हुस्ने बुतां के परदे में (प्रकृति के खण्ड में) रब का जलवा (अध्यात्मिक ज्योति) का दर्शन करता हैं, प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिकता से मण्डित देखता है, बूंद में वाडव का दाह देखता है और साधारण घटनाओं में जीवन की वास्तविक गति की झलक (inward laws of life) पाता है और यही उसके लिये महत्वपूर्ण वस्तु है। घटनाओं के अति-प्राकृत्य को रोमांटिक कवि एक क्षण के लिए अपने काव्य में स्थान दे सकता है। उदाहरण के लिये कालरिज की प्रसिद्ध कविता Ancient Mariner को लीजिये। वहां पर सारी घटनायें ऐसी हैं जो सहसा विश्वनीय नहीं है। पर उन घटनाओं से होकर भी जीवन की आन्तरिक गति ही सर उठा कर झांकती रहती है अतः रोमान्टिक कवि सब कुछ गवारा कर सकता है पर स्थूल जगत की राह जो एक सूक्ष्म तत्व की निरन्तर गति प्रवाहित हो रही है उसके अभाव को वह सहन नहीं कर सकता।

क्लासिकल काव्य में क्या नहीं है ? सब कुछ है, रूप हैं, रंग है, अंग-सौष्ठव है, और है वाहरी साज सज्जा, पर नहीं है तो केवल आंतरिक जीवन का प्राण स्पन्दन। वह हमारी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी नहीं करता, स्थूल के अन्तराल में छिपी आश्चर्यजनक रहस्यमयता का दर्शन हमें नहीं कराता इस रहस्यमयता के प्रदर्शन को लेकर रोमांसवाद उठ खड़ा हुआ। अतः इस रोमांसवाद को 'Renaissance of wonder' भी कहते हैं। यही कारण है कि मानव जीवन की इसी प्रवृति को लक्ष्य करके कुछ लोगों ने सनसनी खेज आश्चर्यजनक और विस्मय वर्द्धक घटनाओं की योजना कर लोगों की कौतूहल वृत्ति को सस्ते ढंग से तृप्त करने का प्रयत्न किया। कथाओं में भूतों की,

हत्याओं की, हैरत अंगेज कारनामों की योजना होने लगी। स्थूल और उत्तेजक चटपटे मसालों (gross and violent stimnlant) के द्वारा लोगों के हृदय को एक क्षण के लिए उत्तेजित मात्र कर देना कवियों और साहित्यकों का ध्येय बन गया। सच्चे रोमांटिक साहित्य के प्रारम्भ के पहले इस तरह के साहित्य की खूब धूमधाम रही। इस तरह के साहित्य-प्रणेताओं में Horace Walpole के भुतहे राज प्रासादों और जान को हथेली पर रखने वाले राजकुमारों की गणना हो सकती है। हिन्दी में देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास और संस्कृत में बृहद् कथा और दण्डी का दशकुमार चरित इसी तरह के साहित्य की श्रेणी में आयेंगे। वर्ड्स्वर्थ का कहना यह है उस समय के राजनीतिक उथल-पुथल, क्रान्तिकारी आश्चर्यपूर्ण घटनाओं और अविश्वसनीय भयानक कार्यों को देखते रहने के कारण लोगों की प्रवृत्ति कुछ ऐसी हो गई है कि वे ऐसी ही वस्तुकों के पाने के अभ्यस्त हो गये हैं जिनमें आश्चर्य और कौतूहल का सहज दर्शन हो जाय और उन्हें अधिक गहराई में उतर कर उन्हें प्राप्त करने का श्रम नहीं करना पड़े। अतः यदि लोग उसकी कविताओं को जिसके बाह्य रूप में सस्ते ढंग से आश्चर्य का प्रदर्शन नहीं है,पसन्द न करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उस युग में आश्चर्य और कौतूहल हवा में तैरते फिरते थे, लोगों को उन्हें स्थूल रूप में देखने की आदत पड़ गई थी। अत: यदि साहित्य में gross aud violent stimulant का बोल-बाला हो जाय और लोग उसी के पीछे पागल हो जायं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। इसकी दवा होनी चाहिये और दवा यही है कि लोगों को प्रकृत में ही अति प्रकृत, स्थूल के भीतर सूक्ष्म को दिखलाने का प्रयत्न करना होगा। यही कारण है कि Lyrical Balled नामक काव्य-संग्रह में साधारण घटनाओं का वर्णन साधारण भाषा में किया गया है। इसके द्वारा लोगों की मानसिक चटखारे लेने की आदत दूर होगी, किसी चीज की गहराई में जाने की प्रवृत्ति बढ़ेगी और उसका मानसिक शैथिल्य दूर होगा।

काव्य के विषय और उसकी भाषा के प्रश्न का निर्णय हो जाने पर इस प्रश्न पर विचार करना रह जाता है कि काव्य-विधान में छन्द और तुक, लय और स्वर का क्या स्थान है?' काव्य तो साधारण गद्य की तरह ताल-हीन और लय-हीन भाषा में लिखा नहीं जाता। वर्ड्स्वर्थ के काव्य विषयक सिद्धान्तों के विरोधी वर्ग के विचारकों का कहना है कि छन्द और तुक के अनुरोध के कारण काव्य को भाषा को साधारण गद्य की भाषा से अनिवार्यत:

पृथक रूप धारण करना पड़ता है और उसका वही रूप न रह कर दूसरा हो जाता है। तब क्या वर्डस्वर्थ के काव्य-विषयक सिद्धान्त निर्मूल नहीं हो जाते यदि कवि यत्नतः अपने काव्य की भाषा को साधारण बोल-चाल की भाषा तक सीमित रखे तब इसकी भी क्या आवश्यकता है कि छन्द में और तुक-भाषा का ही वह प्रयोग क्यों करें? इसका उत्तर यह है कि छन्द के द्वारा काव्य में एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि होती है जो रचना को कवित्वपूर्ण बनाने में समर्थ होती है। छन्द को हटा देना रचना की काव्योपयोगिता को नष्ट कर देना होगा।

मानव हृदय के भावों और विचारों को सर्वोत्कृष्ट और सर्व-सशक्त रूप में अभिव्यक्त करना ही कवि का उद्देश्य है। यह बताया जा चुका है कि इसी अभिव्यक्ति की निस्सीमता और व्यापकता के कारण ही काव्य की गणना कलाओं में सर्वश्रेष्ठ की जाती है। शब्दों के पाश से बँधकर भाव मानो निस्सीम हो जाते हैं। पर भावों की अभिव्यक्ति के साधन केवल शब्द ही नहीं है। संगीत में स्वरों का आरोहावरोह में भी भावों को अभिव्यक्ति करने की अपूर्व शक्ति होती है। संगीत को ध्यान-पूर्वक सुनने वाले व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं कि साधारण से भाव भी गायक की स्वर-लहरी पर चढ़ कर तथा वाद्य-यंत्रों का सहारा पाकर कितने प्रभावोत्पादक बन जाते हैं। अतः यदि काव्य को संगीत का सहारा मिल सके तो उसकी प्रभविष्णुता में अपार वृद्धि हो सकती है और उसमें एक सार्वभौमिक अपील का समावेश किया जा सकता है। गीतों में भी काव्य को संगीत का आश्रय अवश्य मिलता है तभी उनमें एक अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता है। पर यह सहायता बाहर से चिपकाई हुई और कृत्रिम होती है और रचना के काव्यात्मक अंश पर इस तरह हावी हो जाती है कि काव्य का रूप छिप जाता है और संगीतात्मकता ऊपर आजाती है। अतः काव्य के स्वरूप की रक्षा के लिये तथा उसके प्रभाव की अभिवृद्धि के लिये आवश्यक है कि संगीत ऊपर से चिपकाई हुई वस्तु के रूप में नहीं हो। व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि शब्दों के अन्दर जो संगीतात्मकता स्वाभाविक रूप में वर्त्तमान है उसे ही उभार कर काव्य में लाया जाय। काव्य को ही संगीतमय बनाया जाय। संगीत बाह्य आरोपित विदेशी वस्तु की तरह न लगे। यह कार्य छन्द और तुक के द्वारा सिद्ध होता है। छन्द को काव्य का ही एक स्वाभाविक अंग मानना चाहिये। यह कोई बाहरी चीज नहीं है।

छन्दों की एक दूसरी उपयोगिता भी है। साहित्य शास्त्रियों के सामने

सदा से यह प्रश्न उपस्थित रहा है कि वास्तविक जीवन की करुणा और शोक जैसी दुखात्मक अनुभूति, घृणा और जुगुप्साव्यंजक अनुभूतियाँ काव्य में निबद्ध होकर हमारे लिये इतनी प्रिय क्यों हो जाती हैं कि हम उन्हें रस लेकर पढ़ते हुए भी नहीं थकते। समय समय पर अनेक विद्वानों ने अनेक तरह से इस शंका का समाधान किया है। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि छन्दों में हमारे हृदय और मस्तिष्क को राहत और शान्ति प्रदान करने की विचित्र शक्ति होती है। ओथेलो जैसे करुणा-रस परिपूर्ण विपादान्त ग्रन्थों के पढ़ने से पाठकों के हृदय में करुणा की वृत्ति इतनी मात्रा में जाग सकती है कि वह दुखावह हो उठे और पाठक पर उसका प्रभाव अवांछनीय रूप से पड़े। पर चूंकि उन भावों की अभिव्यक्ति छन्दों के माध्यम से होती है अतः छन्दों की चित्त-प्रसादिनी शक्ति के कारण ये दुखात्मक अनुभूतियां भी प्रसादकारिणी हो जाती हैं। जिस क्रियात्मक प्रतिमा के कारण कवि के भाव शब्दों में ढल जाते हैं उसी की प्रेरणा से उनमें छन्दमय संगीतात्मकता भी आ जाती है। इसके लिये उसे प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। ये सब बातें स्वतः प्रसूत और स्वयंभू होती हैं।

वर्ड्सवर्थ की कविता में किन-किन त्रुटियों का निर्देश किया गया है इसकी विस्तृत व्याख्या हम कालरिज के सिद्धान्तों का उल्लेख करते समय करेंगे। इस समय दो-एक त्रुटियों की ओर संकेत करना ही पर्याप्त होगा क्योंकि वर्ड्सवर्थ ने इसका उत्तर दिया है और उस उत्तर के पढ़ने से उसके काव्य-विषयक सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है। उसके विरोधी आलोचकों का कहना यह है कि वर्ड्सवर्थ के काव्य में विचारों की तुच्छता (trivial thought) है और उसमें यत्र-तत्र ऐसे-ऐसे शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग पाया जाता है जो इतने तुच्छ और छिछले हैं कि उनके पढ़ने से एक हँसी आये बिना नहीं रह सकती, वे mean and vulgar हैं। पहले दोषारोपण के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ का कहना है कि काव्य में वर्णित घटनाओं और वस्तुओं की साधारणता और साधारण ग्राम्य जीवन के साधारण मनोवेगों की अभिव्यक्ति को देखकर ही आलोचकों को ऐसा भ्रम हो गया है। वास्तव में बात तो यह है कि कथा-भाग कितना ही साधारण रहा हो पर किसी भी सचेतन पाठक से यह छिपा न रह सकेगा कि वर्ड्सवर्थीय काव्य में वर्णित सीधी-सादी स्वाभाविक घटनाओं के द्वारा एक दिव्य संदेश की अभिव्यक्ति हो रही है। मेकायल, या पीटरबेल या रुथ या लूसीग्रे का जीवन सीधा और साधारण है पर इनके महत्व को कथा की राह से निर्धारित करना इनके साथ

अन्याय करना है। इनका उद्देश्य ही है सीधी-सादी घटनाओं के द्वारा जीवन की आन्तरिक गति-विधि को पहचानना (inward life of nature) और इसी राह से उन पर विचार करना चाहिये। दूसरे दोषारोपण के विषय में कहा जा सकता है कि हो सकता है कुछ शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग कुछ लोगों को हास्यास्पद सा जँचे। पाठक के हृदय में शब्दों के संकेत से जो भाव-जाल झंकृत हो जाता है उनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसके वैयक्तिक अनुभव पर निर्भर करता है। हो सकता है कि एक मनुष्य के अनुभव में एक शब्द का साहचर्य (association) मृत्यु और विपत्ति की घटनाओं से संलग्न हो, वह शब्द उसके हृदय में करुण भावों की सृष्टि करेगा; दूसरे का अनुभव उसके विपरीत हो वह उसके अनुभव-क्षेत्र में तुच्छ और हास्यास्पद घटना से सम्बन्ध रखता हो उसके लिये यह शब्द तुच्छ और हास्यास्पद भावों को जगायेगा। पर अनुभव का ऐसा पार्थक्य बहुत ही विरल होता है। यदि कवि सब तरह की रुचि वाले व्यक्तियों को संतुष्ट करने की बात सोच कर चले तो उसे भावों और विभावों की कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।

ऊपर की पंक्तियों में वर्डस्वर्थ की जो चर्चा की गई है उससे उसके काव्य-विषयक सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ा होगा। कालरिज के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना के अवसर पर वर्डस्वर्थ के सिद्धांत और भी स्पष्ट होंगे क्योंकि कालरिज के आलोचनात्मक साहित्य में एक अंश वर्डस्वर्थ की Poetic diction में बताई साधारण गद्य की भाषा और ग्राम्य जीवन की घटनाओं के निर्वाचन की काव्योचित उपयोगिता के बारे में किये गये विचार से सम्बन्धित है। वास्तव में इन दो भिन्न-भिन्न कवियों पर अलग-अलग विचार नहीं किया जा सकता। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। फिर भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है कि वर्डस्वर्थ किस तरह के आलोचकों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

काव्य के आलोचकों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक पक्ष वह जो काव्य की सुन्दरता को ही प्रधानता देता है। उनका कहना है कि काव्य में उक्ति ही सब कुछ है। काव्य में और साधारण रचना में यही अन्तर होता है कि काव्य किसी बात या विचार को इस ढंग और अदा के साथ हमारे सामने रखता है कि हमें उसे पढ़ कर एक अपूर्व और पूर्ण संतोष होता है। पढ़ने का मन में यह भावना होती है कि जिस तथ्य की अभिव्यक्ति इस काव्य के द्वारा हो रही है उसको ही अभिव्यक्त करना और अन्य तरीकों से हम भी चाह रहे थे पर यह खूबी और विशेषता तथा निरालापन का दर्शन

दुर्लभ था। एक विचार दूसरे विचारों के साथ इस ढंग से मिल गया है मानो वे सहधर्मी हों और एक पारस्परिक सहयोग के द्वारा एक महत्तम लक्ष्य की सिद्धि में वे अपने को विलीन कर दे रहे हों। इस वर्ग के आलोचकों को हम सुविधा के लिये form theory को मानने वाले रूपान्वेषक आलोचक कह सकते हैं ! क्लासिकल आलोचकों का एक वृहद् अंश इसी सिद्धान्त को मान कर चलता था। कालरिज के मत में भी काव्य के लिये रूप-सौष्ठव का कम महत्व नहीं था। उसका कहना तो यहाँ तक था कि काव्य के लिये इतना ही काफी नहीं कि उसके भिन्न-भिन्न अंश सब मिल-जुल कर सामूहिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में अपने को विलीन कर देते हों। बल्कि काव्य की रचना को ऐसा होना चाहिए कि उसके एक टुकड़े को अलग-अलग करके भी देखा जाय तो वह हीरों के कणों की तरह चमक उठे। होमर या मिल्टन की किसी उक्ति की उपमा को लीजिये। काव्य-शरीर से अलग पड़ जाने पर भी उसकी ज्योति मलिन नहीं होती। संस्कृत साहित्य शास्त्रियों में वक्रोक्तिवाद के समर्थक इसी वर्ग के आलोचकों से कुछ मिलते-जुलते हैं। उनका कहना यह है कि "न स संकुचित: पन्था येन वाली हतो गतः" इसी उक्ति में सौन्दर्य है, इसमें नहीं कि "मैं तुम को मार डालूँगा।

दूसरे वर्ग के आलोचकों के मत में उक्ति का उतना महत्व नहीं है। उनका कहना है कि यह बात सच है कि पाठक का मस्तिष्क किसी भाव या विचार की पूर्ण और संतोषप्रद अभिव्यक्ति को देख कर प्रसन्न होता है, काव्य को पढ़ कर उसके हृदय में यह भावना होती है कि मेरे मन में कुछ इस तरह के भाव आते थे पर मैं उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता था। कवि के हम कृतज्ञ हैं कि उसने हमें उपयुक्त अभिव्यक्ति से साक्षात्कार करा कर हमारे भावों को प्रवाह दे दिया। पर पाठक के पूर्ण संतोष के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस अभिव्यक्ति या उक्ति के पीछे छिपे सत्य और विचार पर भी उसका ध्यान लगा रहता है। काव्य का सौन्दर्य भावों की गहराई और वास्तविकता और उच्चता पर निर्भर रहता है। यदि उसमें गम्भीरता, व्यापकता, उच्चता और उन्नायकतत्व का अभाव है तो कविता केवल शब्दों की झंकार मात्र बन कर रह जायेगी और पाठकों को गम्भीर तृप्ति नहीं दे सकेगी। यदि प्रकृति के creative impulse (सृजनात्मक प्रेरणा) को देखा जाय तो पता चलेगा कि इस प्रेरणा के वशीभूत होकर प्रकृति वस्तुओं को एक निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था की ओर लेकर वकसित करने के कार्य में सदा संलग्न रहती है। विकास ही प्रकृति का मूल

मंत्र है। वही सृजन की अदम्य प्रेरणा ( creative impulse ) ही कवित्व के मूल में काम कर रहा है। अतः वस्तु और भावों के द्वारा किसी उच्चतर सत्य की ओर सदा प्रेरणा नहीं देते रह कर कविता अपने मूल रूप के प्रति सच्ची नहीं रह सकेगी। अतः कविता केवल अभिव्यक्ति की क़ला नहीं। वह इससे कुछ अधिक ऊँची चीज है। वह हमें एक दिव्य संदेश देती है, जीवन को उच्चतर स्तर पर ले जाने का उपक्रम करती है। ऐसे आलोचकों को हम तत्वान्वेषक आलोचकों की श्रेणी में रख सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्डस्वर्थ को हम इसी दूसरी तत्वालोचक आलोचकों की श्रेणी में रख सकते हैं। वर्डस्वर्थ का कहना ही यह था कि कविता का महत्व कहानी में वर्णित कथा तथा वस्तु में नहीं है पर उसके द्वारा प्रकृति की आन्तरिक प्रवृत्ति ( inward law of nature ) की अभिव्यक्ति हो रही है।

# कालरिज

काव्य आलोचकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। विशुद्ध आलोचक, दार्शनिक आलोचक और कवि-आलोचक। विशुद्ध आलोचकों की श्रेणी में वे आलोचक आते हैं जिनकी रचनाओं मे किसी गम्भीर तत्त्व का विश्लेषण नहीं होता, उनकी आलोचना काव्य के सम्बन्ध में यों ही किसी की गई बातचीत की तरह होती है, आलोच्य पुस्तक के विषय में कुछ चलती सी बातें कही जाती हैं, उसका महज परिचय मात्र रहता है। ऐसा आलोचक अधिक से अधिक इतना ही करता है कि वह पुस्तक के बारे में दो चार प्रशंसात्मक या निन्दात्मक वाक्य कह कर अथवा कुछ दूसरी पुस्तकों के साथ उसकी तुलना कर अपनी लेखनी को विश्राम दे देता है। आज-कल हिन्दी के मासिक पत्रों में पुस्तक की जो रिव्यू नाम की चीज़ निकला करती है वह बहुत कुछ इसी तरह की विशुद्ध आलोचना हुआ करती है। दार्शनिक आलोचक किसी काव्य को जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों मानव-जीवन के मौलिक तत्त्वों तथा आध्यात्मिक जीवन के रहस्यों के मेल में रख कर देखने और दिखाने की कोशिश करता है। वह आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातें करता है; वह यह बतलाता है कि मानव स्वभाव के बारे में उसकी धारणा क्या है, समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध-सूत्रों का संचालन किन मौलिक नियमों के द्वारा होता है, किन किन उपकरणों को लेकर मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क का निर्माण हुआ है और तब इन्हीं सिद्धान्तों के आलोक में काव्य में वर्णित व्यक्ति और जीवन की वह आलोचना करता है। साहित्य के जितने माननीय आलोचक हुए हैं सबों की आलोचना में गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। कालरिज ने अपनी शेक्सपियर सम्बन्धी आलोचना के सिलसिले में अपने सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों को सुबोधतर रूप में देने की कोशिश की है। गेटे की आलोचना पढ़िये तो आपको स्पष्टतया प्रतीत हो जाएगा कि समाज और विश्व के सम्बन्ध में उसके विचार क्या थे। पेटर आलोचना को Quickened meditation अर्थात् जीवन्त ध्यानावस्थिता कहा करता था।

आरनल्ड के आलोचना-ग्रन्थ मानो नीति-शास्त्र के दूसरे संस्करण हैं। लैम्ब ने अपने आलोचना-ग्रन्थ में ईश्वर और मानव के सम्बन्ध में इतना गम्भीर विवेचन किया है कि वैसा विवेचन उसके और किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। आलोचना के क्षेत्र में इस तरह के दार्शनिक आलोचकों ने बहुत बड़ा काम किया है और इनके द्वारा रचनाओं के स्वरूप को स्पष्टतापूर्वक समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

तीसरी श्रेणी के आलोचक वे हैं—जिन्हें हमने उपर कवि आलोचक कहा है। ये लोग स्वयं काव्य का प्रणयन करते हैं, काव्य की रचना के समय कवि की मानसिक अवस्था क्या रहती है उसके मानसिक व्यापार कौन-कौन से रूप धारण करते हैं इसका उन्हें स्वानुभूत ज्ञान रहता है और इसी के बल पर वे काव्य की आलोचना करते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि प्रत्येक कवि आलोचक होता ही है हालांकि प्रत्येक आलोचक कवि भी हो यह निश्चित नहीं। प्रत्येक कवि के जीवन में एक मानसिक अवस्था अवश्य आती है जब वह अपनी कविताओं पर विचार करता है, चिन्तन करता है और चिन्तन के द्वारा उनके दुर्बोध नियमों का पता लगाता है जिनके द्वारा कविताओं की सृष्टि हुई है और इस अध्ययन के क्रम में वह कुछ वैसे सिद्धान्तों को एकत्र कर लेता है जिनके चिह्नों पर चल कर निर्दोष काव्य की रचना हो सके। आलोचक कवि भले ही न हो पर कवि आलोचक न हो यह सम्भव नहीं। यदि इंगलैण्ड के कवियों पर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि जितने उच्च कोटि के कवि हुए हैं सबों ने आलोचना ग्रन्थ लिखे हैं और गम्भीर और सच्ची आलोचना के नाम पर हमें जो कुछ सामग्री प्राप्त है वह इन्हीं की लेखनी से निसृत हुई है। ये लोग अपनी कविताओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं वह उनकी स्वानुभूत वस्तु होती है, उसमें प्रत्यक्ष साक्षी, (चश्मदीद गवाह, eye witness) के कथनों की दृढ़ता रहती है। संसार में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके व्यवहार से, कार्य-कलापों से लोगों के हृदय पर उनकी सत्यनिष्ठा की छाप बैठ जाती है और उनकी बातों में लोग सहज भाव से विश्वास कर लेते हैं, किसी के उनकी बातों में अविश्वास करने की गुंजाइश नहीं होती। उसी तरह कवि अपनी उच्च कोटि की काव्यात्मक रचनाओं द्वारा लोगों पर अपनी ईमानदारी की छाप बैठा दिए रहता है। अतः वह अपनी रचना के सम्बन्ध में या समानधर्मी रचनाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहता है उसमें सत्यता की मात्रा रहती है; उसकी सत्यता प्रामाणित हो चुकी रहती है। उसमें ठोस तत्त्व वर्त्तमान रहता है अतः उसके काव्य के सम्बन्ध

में छुटपुटिये आलोचकों के निर्णय से उसकी बातों में अधिक विश्वासोत्पादकता होती है। ब्लेक, रोजेटी या वर्डस्वर्थ ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में जो कुछ बातें कही हैं वे किसी व्यवस्थित रूप में भले ही न हो पर उनका महत्व किसी व्यवस्थित और बुद्धिसंगत आलोचना से किसी प्रकार कम नहीं।

कालरिज इसी तृतीय श्रेणी के आलोचकों में आता है। उसने स्वयं कविता की है, उच्च-से-उच्च कोटि की कविता लिखी है। साथ ही उसने कविता के सम्बन्ध में साधारण रूप से और शेक्सपियर और अनेक कवियों के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखा है। अंग्रेज़ी का वह आज भी सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है और उसकी पुस्तक Biographia Literaria आलोचना की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। कालरिज ने एक जगह इस प्रकार से लिखा है "The ultimate end of criticism is much more to establish the principle of writing than to furnish rules how to pass judgment on what has been written by others" अर्थात् "आलोचना का चरम ध्येय यह है कि वह लेखन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करे। यह उतना नहीं कि दूसरों के लेख पर निर्णय देने के नियमों का उल्लेख करे"। यह कह कर कालरिज ने आलोचना की सच्ची नब्ज पहचानी है। अन्य आलोचकों ने आलोचना के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश अवश्य डाला है पर स्वयं सृजन व्यापार और तद्गत मानसिक अवस्था पर किसी ने इतनी गम्भीरता से विचार नहीं किया है तथा हृदय की उस गहराई के बिन्दु को देखने की कोशिश नहीं की है जहाँ से सृजन आरम्भ होता है। कालरिज कवि के नाते सब कुछ जानता है, दार्शनिक होने के नाते उन्हें समझता है और आलोचक की हैसियत से सृजन के मूल पर प्रकाश डाल सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि Aristotle is the mathematician of criticism while Coleridge is the high priest अरस्तू आलोचना का गणितज्ञ है पर कालरिज उसका उच्च पुजारी—

आलोचना का सर्व प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कविता क्या है? कवि किसे कहते हैं? यों तो एतद्सम्बन्धी विचार उसकी सारी पुस्तक में लिखे पड़े हैं क्योंकि साहित्य-शास्त्र का यही मौलिक प्रश्न है, इसे छोड़ कर वह चल ही नहीं सकता। पर दो स्थानों पर इस सम्बन्ध में विचार विशेष रूप से निबद्ध किये गए हैं। एक तो Literaria Biographia के १२ वें अध्याय में जहाँ उसने वर्डस्वर्थ के काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों से मतभेद

की चर्चा की है और दूसरा वहाँ जहाँ उसने शेक्सपियर पर व्याख्यान दिया है पर साथ ही शेक्सपियर की रचनाओं के साथ-न्याय करने के लिए कविता की परिभाषा से प्रारम्भ किया है। कविता के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि एक गद्य-रचना में जो उपकरण हैं उन्हीं उपकरणों के द्वारा कविता की रचना होती है। हाँ, अन्तर इसी बात में हो सकता है कि कविता का उद्देश्य भिन्न हो और इस उद्देश्य की विभिन्नता के कारण उन उपकरणों की योजना भिन्न रूप में की गई हो। हो सकता है कि हमारा ध्येय यह हो कि किसी तथ्य या घटना को इस ढंग से रखें कि उसे कण्ठाग्र करने तथा याद रखने में सुविधा हो और इसलिए हम उसे एक विशिष्ट ढंग से निबद्ध कर के रखें। हो सकता है कि इस ढंग की रचना में छन्द और तुक को छोड़ कर और कोई विशिष्टता न हो पर यह रचना भी काव्य पद की अधिकारिणी हो सकती है। इस तरह आप देखेंगे कि वे सारी रचनायें जिनमें शब्दों की पुनरावृत्ति, लय, एक तानता अथवा तुक के कारण एक अतिरिक्त आनन्द का समावेश हो जाता है वे सब काव्य की श्रेणी में आ सकती हैं।

Thirty days bath September
April June and November

की तरह की रचना भी इस अतिरिक्त आनन्द के समावेश के कारण काव्य के नाम से पुकारी जाती है।

गद्य और काव्य में अन्तर को समझने के लिए उद्देश्य और वस्तुतत्त्व की विभिन्निता की राह से भी विचारना होगा। पहले उद्देश्य की बात लीजिए। बहुत सी रचनाएँ ऐसी होसकती हैं जिनका साक्षात् उद्देश्य सत्य की अभिव्यक्ति हो सकती हैं चाहे आनन्द उसे भले ही प्राप्त हो जाय पर आनन्दोद्रेक करना उनका साक्षात् उद्देश्य नहीं। दूसरी ओर अन्य प्रकार की रचनायें हो सकती हैं, जिनका उद्देश्य साक्षात् आनन्दोद्रेक करना होता है। यद्यपि अन्त में चल कर उनसे किसी तथ्य या सत्य की उपलब्धि भले ही हो जाय। कलाकृति, जिसके अन्तर्गत काव्यात्मक रचनाएं भी आती हैं, का उद्देश्य साक्षात् आनन्द्रोद्रेक करना होता है। साक्षात् आनन्द की बात यों समझिये। प्रकृत वस्तु की स्थिति में ही हमें आनन्द नहीं मिलता। हम उसे तोड़ कर मरोड़ कर या नष्ट कर आनन्द का उपभोग करते हैं। भोजन सामग्री को ही लीजिए। हम उसे खाते हैं, उसके द्वारा हमारी क्षुधा की निवृत्ति होती है तब हमें आनन्द आता है। हमें जो आनन्द आता है वह क्षुधा के अपनोद से होता है भोजन की अवस्थिति के कारण मात्र से ही नहीं। इस आनन्दोद्रेक को साक्षात् नहीं

पर परोक्ष आनन्द कह सकते हैं। पर कुछ ऐसी रचनायें होती हैं जिनसे साक्षात् आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह की शक्ति से सम्पन्न होना काव्य की एक ख़ास विशिष्टता है। पर यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि साहित्य में और भी तरह की रचनायें हो सकती हैं, मसलन, उपन्यास और कहानी, जिनका उद्देश्य भी आनन्द की साक्षात् सृष्टि करना होता है पर उन्हें तो कोई काव्य के नाम से नहीं पुकारता। तब क्या हम यह मान लें कि छन्द और तुक ही एक ऐसी विभाजक रेखा है जो काव्य से इनके पार्थक्य को स्पष्ट करती है।

इसके उत्तर में इतना ही निवेदन किया जा सकता है कि किसी वस्तु में शाश्वत आनन्द प्रदान करने की क्षमता तब तक नहीं आ सकती जब तक उसके अन्तराल में ही इस प्रश्न का सामधान न वर्त्तमान हो कि जिस रूप मे वह अवस्थित है उसे छोड़ कर वह दूसरे रूप में क्यों नहीं। यदि काव्य में छन्द तुक और लय का समावेश है तो वह ऐसा होना चाहिए कि उसके अन्य सारे अंश उससे मेल खाते हों, छन्द और तुक के द्वारा काव्य में जो, एकनूतनता आ जाती है उसका समर्थ काव्य के अन्य अवयवों के द्वारा भी होना चाहिए। अतः काव्य की परिभाषा कुछ-कुछ यह होगी। काव्य एक विशिष्ट रचना है, वह विज्ञान से विपरीत है क्योंकि उसका उद्देश्य साक्षात् आनन्दोद्रेक करना है सत्य की उपलब्धि नहीं। साथ ही अपनी जाति की अन्य रचनाओं से वह इस बात से पृथक है कि सामूहिक रूप से काव्य के द्वारा जिस आनन्द की सृष्टि होती है उसका मेल अन्य अंशों से प्राप्त आनन्द के साथ ठीक बैठ जाता है, कहीं किसी तरह का विरोध नहीं होता मानो सब मिलकर समवेत रूप से एक लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

मुझे बहुत-सी ऐसी कहानियाँ पढ़ने को मिलती हैं या चित्र देखने को मिलते हैं जिसका एक अंश इतनी सुन्दरता के साथ चित्रित किया गया रहता है जो स्वयं में अनुपम सौन्दर्य से मण्डित है पर वह सामूहिक सौन्दर्य को आच्छादित कर उस पर हावी बन बैठता है। परिणाम यह होता है कि यह अंश स्वयं अपने में भले ही सुन्दर हो पर उसमें पारस्परिक समन्वय की भावना नहीं, वह मोटे टाट में मखमल की पैबंद की तरह चमक भले ही ले पर वह सामूहिक सौंदर्य अथवा आनन्द की सृष्टि में योगदान नहीं करता और इस तरह काव्य की उद्देश्य पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है। मेरे एक मित्र ने अपनी रचित कहानी पढ़ने को दी और उस पर मेरी सम्मति माँगी। मैंने उनसे कहा "भाई! आपकी कहानी तो अच्छी है। पर कहानी में आपने यत्र तत्र जो कवितायें उद्धृत की हैं वे उससे भी अच्छी हैं, इतनी अच्छी हैं कि

पाठक का ध्यान उनमें ही उलझ कर रह जाता है, कहानी की ओर जाता नहीं। अतः कहानी का पूरा सौंदर्य खुल कर प्रकट होने नहीं पाता"। इस सम्बन्ध में कालरिज का कहना है कि किसी देश और किसी युग की आलोचना ने वैसी रचना को काव्य के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया है जिसमें कुछ पंक्तियाँ या उक्तियाँ एक दूसरे से अलग होकर चमकती दिखलाई पड़ती हों, सबका ध्यान अपने ऊपर ही केन्द्रित कर लेती हों पर पूरे काव्य के साथ जिनका समन्वय नहीं बैठता हो अथवा वैसी असंतुलित रचना को भी काव्य न हो कहा गया है जिसमें मूलभूत सहायक अंशों से निरपेक्ष होकर काव्य के उद्देश्य का पता पाठक शीघ्र पा जाता है। यहाँ पर कालरिज के शब्द उल्लेखनीय हैं "Reader should be carried forward, not merely or chiefly by the mechanical impulse of curiosity, or by restless desire to arrive at the final situation but by the pleasurable activity of mind excited by the attraction of the journey itself like the motion of a serpent, which the Egyptians made the emblem of intellectual power, like the path of sound through the air, at every step he pauses and half recedes, and from the retrogressive movement collects the forces which again carries him forward" अर्थात् काव्य ऐसा होना चाहिए कि "पाठक केवल या प्रधानतः कौतूहल अथवा अन्तिम रहस्य की चंचल जिज्ञासा भावना से अग्रसर न हो पर इस यात्रा के कारण जो एक आनन्दमूलक मानसिक व्यापार होता है उसके द्वारा प्रेरित हो। ठीक सर्प की गति की तरह जिसे मिश्र-निवासियों ने मानसिक शक्ति का प्रतीक माना है अथवा वायु मंडल में हवा की गति की तरह; हर एक पद पर ठहरना; और थोड़ा पीछे हटना, और प्रत्येक पश्चाद्-गामी पद-निक्षेप के साथ शक्ति-संयम करना और फिर आगे बढ़ना"। काव्य के पाठक की भी मानसिक गति इसी तरह की होनी चाहिए।

यहाँ एक बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए। किसी बड़े काव्य के प्रत्येक अंश में कविता होना सम्भव नहीं। पर इतना अवश्य होना चाहिए कि शेष अंश काव्योचित अंश में समन्वित हो और यह तभी हो सकता है जबकि इन अंशों की रचना इस रूप में की जाय कि काव्यों के अनेक गुणों में से एक गुण उनमें अवश्य वर्तमान हो। यह गुण वही हो सकता है जो काव्य के लिये पाठक के आकर्षण को सदा इतना बनाये रखे जो एक गद्य की रचना

के लिए संभव न हो कालरिज ने आगे चल कर बतलाया है, जैसा कि भाषा और गद्य की भाषा एक नहीं हो सकती दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

परन्तु, इतना होने पर भी काव्य की विशिष्टता कवि की प्रतिभा से ही अपने स्वरूप का निर्माण करती है। कवि की प्रतिभा का स्वरूप पहचाने बिना हम किसी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते। यदि हम जानना - हें कि वह कौन-सी विशेषता है जो किसी काव्य को अन्य समानधर्मी रचनाओं से अलग करती है तो हमें कहना पड़ेगा कि वह विभाजन रेखा कवि की प्रतिभा के द्वारा ही खींची जाती है। मनुष्य के मस्तिष्क की सारी तहों का पता अभी मनोवैज्ञानिकों को नहीं चला है और वे यह भी जान लेने में सफल नहीं हो सके हैं कि मनुष्य के अन्तः करण के विविध व्यापारों का सच्चा स्वरूप क्या है और वे किस-किस रूप में कार्य करते हैं। चाहे जो हो, पर एक आदर्श कवि मनुष्य की आत्मा की सारी क्रियाओं को प्रबुद्ध कर देता है और वे सारी क्रियाएँ अपने सापेक्षिक और आनुपातिक महत्व के अनुसार पारस्परिक रूप मे समन्वित हो एक ही लक्ष्य की सिद्धि में अग्रसर होती हैं। वहाँ पर किसी प्रकार की परस्पर-विरोधिता नहीं रहती, सारे विरोधों का शमन हो जाता है और आत्मा अपने आनन्दमय स्वरूप को देखकर कृतार्थ हो जाती है। कवि की इसी प्रतिभा को कालरिज ने Imagination के नाम से पुकारा है और कहा है कि इसका काम समन्वय की स्थापना करना है—समन्वय, एकरुपता का विविधता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, विचार का मूर्ति के साथ। यद्यपि यह कृत्रिमता और अकृत्रिमता को एक तान कर देती है तो भी स्वाभाविकता की प्रमुखता बनाए रखती है, कला की नहीं। जिस तरह अग्नि एक लोहे के पिण्ड को भी अग्नि रूप में परिणत कर देती है या हमारी पाचन-शक्ति विविध भोजन सामग्री से रस खींच उसे अपने शरीर के अनुकूल बना लेती है। ठीक इसी तरह का व्यापार प्रतिभा का भी होता है। वह विविध वस्तुओं में स्थित साधारणत्व को, शाश्वत को खींच कर उसे इस तरह सविकल्पक रूप में हमारे सामने रखती है कि हमारी आत्मा उसे सजातीय वस्तु समझ कर आंख मूंद कर ग्रहण कर लेती है। साधारण मनुष्य की झूठ को हम पकड़ लेते हैं, पर कवि की प्रतिभा हमारी आँखों के सामने कुछ ऐसा इन्द्रजाल सा खड़ा कर देती हैं कि उसकी झूठ को हम पकड़ नहीं पाते हैं क्योंकि हम हृदय की तह में महसूस करते हैं कि झूठ, सच इत्यादि द्वन्द्वात्मक भाषा द्वैतवाद की वस्तु है। कवि के अद्वैत के सामने' इनका कोई महत्व नहीं। वह एक ऐसे जगत का प्राणी है और वह हमें ऐसे

जगत् में ले जाना चाहता है जहाँ एक ही चिन्मय तत्त्व निरन्तर वर्तमान रहता है। कालरिज की प्रसिद्ध कविता Aucient Mariner में घटनायें अलौकिक, असंभावित और साधारण बुद्धि के पाठकों पर अधिक ज़ोर देने वाली भले ही हो पर कवि की समन्वयात्मक प्रतिभा की ऐन्द्रजालिकता कुछ इस तरह पाठक पर छाई रहती है कि उन सबसे होकर एक व्यापक सत्य का ही रूप हमारे सामने आ जाता है।

अन्त में Good SENSE is the body of poetic genius, FANCY its DRAPERY, MOTION its LIFE and IMAGINATION the soul that is every where and in each; and forms all into one graceful and intelligent whole अर्थात् स्वस्थ विचार कवि-प्रतिभा का शरीर है, कपोल-कल्पना उस पर की गई बेलबूटे की नक्काशी है, वेगमयता उसका जीवन है, कल्पना उसकी आत्मा है जो सर्वत्र और सब में निवास करती है और सब को एक सुन्दर और बोधगम्य रूप दे देती है। यहाँ पर मुझे संस्कृत काव्य शास्त्रियों की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं" "काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणादिवत्, रीतयो अवयव संस्थान विशेषवत् अलंकाराः कणक कुण्डलादिवत्—

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर है, रसादि आत्मा है, गुण शौर्यादि की तरह हैं, दोष काणत्व इत्यादि की तरह, रीति अंग प्रत्यंग के सांगठनिक सौष्ठव की तरह और अलंकार कुण्डल इत्यादि की तरह हैं। यद्यपि विषय भिन्न-भिन्न हैं, एक ही विषय का प्रतिपादन यहाँ नहीं हो रहा है। पर यह देखकर आनन्द-मिश्रित आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि दो भिन्न देशों के विचारकों के कण्ठ-स्वर और भावाभिव्यक्ति के ढंग में कितनी समानता हैं।

ऊपर इस बात की चर्चा हो चुकी है कि कालरिज ने शेक्सपियर तथा अन्य कवियों की कविता का मूल्यांकन किया है। उसी मूल्यांकन के सिलसिले में उसने अपने काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। पाठकों को अब तक रोमान्टिक काव्य धारा के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान हो गया होगा और वे जान गए होंगे स्वतः प्रसूत अदम्य प्रेरणा (Spontaneity) ही रोमान्टिक काव्य की जननी है। वह किसी बाहरी प्रभाव से नहीं पर कवि के अन्तःकरण की आवाज़ होती है। कालिदास ने कहा है कि "स्ववीर्यगुप्ता हि मनो प्रसूति" अर्थात् मनु की सन्तान 'स्ववीर्य गुप्त होती है, वह अपनी

रक्षा आप करने में समर्थ होती है। उसी तरह रोमाण्टिक काव्य कवि के हृदय से स्वयमुत्थित भावों से पोषण प्राप्त करती है, वह किसी बाहरी चीज़ का मुँह नहीं जोहा करता, यहाँ वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधानता रहती है। वर्डस्वर्थ और कालरिज दोनों कवियों का दृढ़ विचार था कि प्रकृति की परिकल्पना की अनुभूति के क्षणों में जो मनुष्य की मानसिक दशा होती है वे वही कवि के जीवन की सार वस्तु (Summum bonum) है और यह कारण है कि इसे उन्होंने दैवी संकेत कहा है। पर इसका अर्थ यह नहीं, जैसा कि प्राय: डर रहता है, कि कवि अपने हृदय के व्यक्तिगत भावों और मानसिक दशाओं के आत्मपरक वर्णन में संलग्न हो जाय। प्राय: होता यह है कि चूंकि कवि स्वात्मपरक मनोदशाओं रहता है अत: वह व्यक्तिगत भावों के स्वात्मपरक वर्णन को ही काव्य की इति श्री समझ लेता है। यह उसकी वैयक्तिक अनुभूति ही सकती है पर काव्यानुभूति नहीं हो सकती। यह भोक्ता की अनुभूति ही है पर स्रष्टा की नहीं। भोक्ता और स्रष्टा में महान अन्तर होता है। स्रष्टा की ही अनुभूति काव्यानुभूति हो सकती है। इस विषय पर कालरिज गेटे तथा वर्डस्वर्थ सब का मत एक है। कालरिज के शब्दों में "A second promise of Genius is the choice of subjects very remote from the private interest and circumstances of the writer himself. अर्थात् प्रतिभा का दूसरा लक्षण यह है कि वह (काव्य के लिये) लेखक की व्यक्ति गत बातों और परिस्थितियों से पृथक वस्तु का निर्वाचन करती है।" आज के आलोचक T.S. Eliot ने तो यहाँ तक कहा है कि कवि जितना ही उच्च कोटि का होगा उसके दोनों व्यक्तित्व—भोक्ता और स्रष्टा-उतने ही अलग होंगे। इस बात को समझाने के लिये कीट्स की दो कविताओं को लीजिये और देखिये कि किस तरह इस कविता में वह भोक्ता की श्रेणी से ऊपर नहीं उठ सका है और अपनी कविता के द्वारा अपने विकृत मानस का एक विद्रूप आभास मात्र दे सका है।

My heart aches, and a drowsy numbness pains
My sense, as though of Hemlock I had drunk

इसको पढ़ कर एक ऐसे रोगी का चित्र सामने आ जाता है जो अपनी नब्ज़ डॉक्टर के हाथ में दे कर कहता हो 'डाक्टर साहब! यहाँ दर्द है, यहाँ दर्द है और यहाँ"। कीट्स की दूसरी कविता जहाँ वह स्रष्टा की तरह स्वस्थ चित्त हो परात्मपरक (Objective) रूप में कहता है—

"That thou, light-winged Dryad of trees
In some melodious plots
Of beechen green and shadows numberless
Singest of summer in full-throated ease

यहाँ पर कवि को सफलता मिली है क्यों कि व्यक्ति की, भोक्ता की अनुभूति अपने स्थान से ऊंची उठकर स्रष्टा की अनुभूति के रूप में परिणत हो कर पाठकों के सामने आती है।

प्रत्येक लेखक या कवि के ध्यान से यह बात कभी भी विस्मृत नहीं होनी चाहिये कि स्वार्थमूलक, व्यक्तिगत-अनुभूति मूलक, भावों, जिसे अंग्रेजी में (Self regarding emotions) कहते हैं की अपील को लेकर साहित्य नहीं चल सकता। लालच, प्रतिशोध, कृतज्ञता इत्यादि भावनायें कितनी ही प्रबल हों पर जब तक हमारे व्यक्तित्व से इनका संबन्ध है इनमें साहित्यिक उत्कर्ष नहीं आ सकता। वह तभी आ सकता है जब हम इन्हें दूसरों में परिकल्पित करके देखें और विचार करें। एक मनुष्य ने कोई मुझे अच्छा पद दिलवा दिया अथवा विपत्ति के समय उसने कुछ सम्पत्ति दे कर मेरी सहायता की। उसके प्रति हमारा हृदय कृतज्ञता से भर गया पर इस भाव में साहित्योत्कर्ष नहीं। दूसरी ओर अपने ऋण को इमानदारी के साथ अदा कर देने वाले अथवा परोपकार करने वाले मनुष्य के प्रति हमारे हृदय में आदर और प्रशंसा के भाव उठते हैं वे साहित्योत्कर्ष के उपयुक्त हैं। क्योंकि एक में हमारी वैयक्तिकता साथ लगी है। दूसरे में सर्वजनीनता है, वह एक व्यक्ति का न हो कर सबका हो गया है। यदि हम व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी सार्वजनीन रूप में रखें तो उनमें भी साहित्यिकता आ सकती है पर उस समय वे व्यक्ति से अधिक लोक की हो जायेंगी! इसीको साधारणीकरण कहते हैं। साहित्य के लिये भावों का साधारणीकरण अत्यन्त आवश्यक है। यदि वाल्मीकि ऋषि को किसी व्याधा ने बाण से मारा होता और उसकी पीड़ा से व्याकुल हो कर उन्होंने उसे श्राप दिया होता तो उसमें वह मार्मिकता और साहित्यिक अपील नहीं आती जो क्रौंचवध को देख कर उनके निकले हृदयोद्गार में आ गया। कवि ने कहा है :—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी
मुनि: कुशेध्माहरणाय जात:,
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ:
श्लोकत्वमापाद्यत यस्य शोक:।

कालरिज का कहना है कि इस तटस्थता की (Utter aloofness of the poets' own feelings) मात्रा शैक्सपियर की रचनाओं में पूर्णरूप से वर्तमान है। शैक्सपियर की रचना में उस अव्यवहित प्रतिभा की धारा काम कर रही है जो किसी भाव या वस्तु के उस केन्द्र में प्रवेश कर जाती हैं जहाँ सब चीजें विश्व-हृदय की धड़कन में मिल जाती हैं; जहां मानव हृदय का लोक-हृदय में लय हो जाता है, जहां व्यक्ति समष्टि में लीन हो जाता है, जहाँ एक अद्वैततत्व को ही प्रधानता रहती है। शैक्सपियर में इस तत्व की पहचान खूब थी अतः यद्यपि उसने निकृष्ट-से-निकृष्ट भावनाओं का चित्रण किया है, वैसी भावनाओं का जो दूसरों के हाथों में पड़ कर पतनोन्मुख करने वाली हो गई है, पर उसके वर्णन में कभी भी नैतिकता का ह्रास नहीं होने पाया है। जीवन में उन्नायक तत्वों को कभी-कमी नहीं होने पाई है। वह प्रेमी और प्रेमिकाओं के वर्णन में पूर्ण स्वच्छन्दता से काम लेगा पर उसमें कभी भी कामोद्रेकत्व की छाया भी न होगी। वह उस घटना को ऐसी-ऐसी कल्पनाओं ऐसी मनोहर परिस्थितियों और चित्र विचित्र मूर्तियों से समन्वित कर देगा कि पाठक का ध्यान इन पर ही अधिक टिका रहेगा The reader is forced into too much action to sympathise with the merely passive of our nature. अर्थात् पाठक को अपने स्वभाव की निष्क्रियता को सम्हालने के लिए ही अनेक मासिनक व्यापारों में लग जाना पड़ता है। जब वायु प्रबल वेग से बहती हो तो जिस तरह बूंद को नदी के तट पर टिकने की चमता नहीं रहती उसी तरह शैक्सपिकर द्वारा वर्णित पाशव वृत्तियों के ऊपर उसकी प्रतिमा की आंधी इतने जोर से चलती है कि पाठक को उस पर ठहरने को फुरसत ही नहीं मिलती।

जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और विचारक गेटे ने भी कॉलारिज के कण्ठ-स्वर में स्वर मिला कर कहा है Poetry of the highest type manifests itself as altogether objective, when once it withdraws itself from the external world to become subjective it begins to degenerate. So long as the poet gives utterance merely to his subjective feeling, he has no right to the title. अर्थात् उच्चकोटि की कविता को अभिव्यक्ति एक दम परात्मक होती है जहां उसने वाह्य संसार से हट कर आत्मपरक होना प्रारंभ किया कि पतन का प्रारंभ हुआ। जब तक कवि अपनी आत्मपरक अनुभूतियों को ही वाणी दे रहा है वह कवि पद का अधिकारी नहीं।

कौलरिज का कहना यह है काव्य में यह तटस्थता दो प्रकार की होनी चाहिये वर्ण्य वस्तु को निर्वाचन में तथा उसके प्रतिपादन में। व्यक्तिगत अनुभूति को साधारणी कृत होकर निर्व्यैयक्ति हो जाना चाहिये और प्रतिपादन भी ऐसा होना चाहिये कि उसमें वैयक्तिकता की छाप नहीं आने पावें : लेखक को उसी तरह रचना की ओट में छिपा रहना चाहिये जिस तरह संसार तथा प्रकृति की ओट में ईश्वर। कहना नहीं होगा कि इस तरह की तटस्थता लाना बड़ा कठिन है, डिकेन्स, थाकरे, मेरिडिथ, वेल्स और स्टेवेन्सन जैसे लेखकों के लिये भी यह पूर्णरूपेण सम्भव नहीं हो सका है। शैक्सपियर में यह बात अधिक मात्रा में पाई जाती है और इसी कारण वह श्रेष्ठ कवि है। शैक्सपियर की रचनाओं को पढ़ कर ऐसा पता चलता है कि मानों आपसे कुछ कहा नहीं जा रहा है। आप सारी बातों को अपनी आंखो से देख व कानों से सुन रहे हैं You seem to be told nothing but see and hear every thing कवि प्रकृति में किसी ऐसी वस्तु का दर्शन करता है जो उसे हिला देती है,जागृत या स्फूर्त्ति कर देती है पर साधारण व्यक्ति पर उसकी कुछ प्रतिक्रिया नहीं होती। क्यों? साफ बात यही है कि वह उस वस्तु को नहीं देख रहा है जिसे कवि ने देखा था, उसका हृदय कपाट बन्द है। कवि का काम प्रकृतवस्तु के उस रूप को पाठक के सामने प्रत्यक्ष भर कर देना है। जिसने उसे प्रभावित कर दिया है। बस और कुछ नहीं है। यदि वह ऐसा कर सका तो पाठक की कल्पना पर उचित काव्यात्मक प्रभाव के लिए वह विश्वास कर सकता है। यदि कवि अपनी इस विधायक प्रतिभा पर विश्वास न करके चित्र के प्रत्यक्षीकरण के आगे बढ़कर अपनी ओर से कुछ कहने सुनने लगा कि सारा मज़ा किरकिरा हुआ।

अंत में हमें यह याद रखना चाहिये कि काव्य कोरा आत्मनिवेदन नहीं है वह भावों का निर्व्यक्तीकरण है और तभी उसमें सार्वजनीनता आती है। आत्मनिवेदन मात्र होकर तो वह व्यक्ति अपना इतना हो जायेगा कि उसके विश्व के होने की सामर्थ्य नहीं रह जायेगी।

## साहित्य में यथार्थ

साहित्य तथा काव्य में यथार्थ का क्या स्थान होना चाहिये इस पर भी कौलरिज ने गंभीरता पूर्वक विचार किया है। आधुनिक युग में हम यथार्थवाद को रोमान्सवाद से एकदम विपरीत वस्तु समझने के अभ्यस्त हो गये हैं

पर रोमांटिक युग के विचारकों की विचारधारा ऐसी नहीं थी। रोमाण्टिक विचार धारा की उत्पत्ति ही कृत्रिमता, असत्यता और झूठ के विरोध में हुई थी। अतः वे स्वाभाविकता और यथार्थता के पक्षपाती थे, उनके मत में यथार्थता (veality) रोमान्सवाद की सार वस्तु है। बायरन ने सत्य के महत्व का उद्घोष करते हुए कहा था कि Truth is always strange, stranger than fiction अर्थात् सत्य सदा ही विचित्र होता है कथा और कहानी से भी अधिक विचित्र"। हेजलिट ने एक बार कहा था "कि मौलिकता की परीक्षा और विजय इसमें नहीं है कि वह हमें ऐसी वस्तु दिखाये जो कभी घटी नहीं है और जिस की हम आसानी से कल्पना भी नहीं कर सकते पर इसमें है कि वह हमें उस चीज़ को दिखाये जो हमारी आंखों और पैरों के तले रहते भी अपनी प्रतिभा और मस्तिष्क की दृढ़ पकड़ के अभाव में उसके अस्तित्व की आशंका भी हम नहीं कर सकते थे"। वर्डस्वर्थ में इस रोमान्सवाद और यथार्थवाद के सम्मिश्रण के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, वह एक दम स्पष्ट है जिसे कोई भी आसानी से देख सकता है।

कॉलरिज भी यथार्थवाद के महत्व को खूब समझता है। पर यथार्थ का अर्थ क्या? प्रकृत वस्तु की हूबहू नकल? माना कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है, जैसा अरस्तू ने कहा है, पर इस वाक्य में अनुकरण और प्रकृति का क्या अर्थ है? कला यथातथ्य और निर्जीव अनुकरण को लेकर नहीं जी सकती, विशुद्ध अनुकरण में कला का प्राणाधायकत्व नहीं है स्वरूपाधायकत्व भले ही हो। अतः साधारण नकल और काव्योचित अनुकरण दो भिन्न कोटि की वस्तु हैं। मोम की बनी मानव मूर्ति या जापानी गुड़िया दोनों नकल की चीज़ें हैं पर कागज़ पर तूलिका के द्वारा चित्रित की गई मानव मूर्ति अथवा बालक का चित्र अनुकरण की श्रेणी में आता है। अतः कलात्मक अनुकरण के यथार्थ स्वरूप को समझाने के लिए हमें देखना होगा कि इसमें और नक्कालबाजी में क्या अन्तर है। दोनों की जाति (kind) में और मात्रा में (quantity) में भी। कलात्मक अनुभूति और कोरी नक्कालबाजी में जो मानसिक व्यापार होता है वह भिन्न २ जाति के हैं और दोनों के अनुकरण की मात्रा में भी अन्तर होता है।

ऊपर हमने कालरिज की कविता सम्बन्धी परिभाषा की चर्चा की है। वहाँ पर कविता के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं वे एक तरह से सारे कलात्मक सृजन के लिये लागू हो सकती हैं। कालरिज का कहना है कि प्रत्येक कला-कृति में दो तत्वों का रहना भर ही आवश्यक नहीं परन्तु उनकी स्थिति वहां

साफ २ दृष्टिगोचर होते रहना भी आवश्यक है। वे दो तत्व हैं समानता और असमानता अथवा एकता और अनेकता। कलाकार का दृष्टिकोण चाहे जो भी कुछ हो, वह जहाँ से और जिस रूप से प्रारम्भ करे उसे ऐसी योजना करनी चाहिये कि भिन्नता में अभिन्नता और अभिन्नता में भिन्नता की अवस्थिति वर्तमान हो। इतना ही नहीं दोनों का वृहत्तर लक्ष्य में जाकर समन्वय भी हो। यदि कला-वस्तु मे प्रकृत वस्तु की समानता ही रहेगी, विशुद्ध अनुकरण ही रहेगा, उन पर यदि असमानता का नियंत्रण नहीं रहेगा तो परिणाम घृणोत्पादक होगा। समानता जितनी ही अधिक होगी उतनी ही कला-वस्तु के घृणोत्पादन की मात्रा भी अधिक होगी। मोम की बनी मानव मूर्तियों की जिनमें मानव आकृति की अधिक से अधिक अनुकृति रहती है हम उच्चकला की श्रेणी में क्यों नहीं रखते? और एक छोटी सी चित्रकारी में जिसमें अनुकृति की मात्रा कम रहती है हम कला कह कर क्यों पुकारते हैं? इसलिये कि प्रथम पक्ष में जिस जीवन और गति को पाने की आशा लेकर हम आगे बढ़े थे उसके अभाव को पाकर हमारी आत्मा दहल जाती है। आप एक चमकते हुए पदार्थ को जल की धारा समझ कर अपनी प्यास बुझाने के लिये लपकते हैं पर उसके बदले में उत्तप्त बालुकामयी राशि को पाकर आपके हृदय को ठेस लगती है। ठीक यही भावना इन मूर्तियों को देख कर भी होती है। समानता की प्रत्येक रेखा जिसके कारण उस तथा-कथित कला-वस्तु में आपकी दिलचस्पी पैदा हुई वही, अन्त में आते आते एक महान असत्यता, ढकोसला और विद्रूपता के प्रदर्शन का कारण बन जाती है। आप एक सत्य के दर्शन की अभिलाषा लेकर आगे बढ़ते हैं पर वहां की धोखेबाजी और प्रतारणा को देखकर घृणा से मुंह फेर लेते हैं।

पर सच्ची कलात्मक वस्तु में यह बात नहीं होती। उसमें प्रकृत वस्तु से अंतर प्रारम्भ से ही स्पष्ट रहता है। कला आपके सामने प्रकृत वस्तु की यथार्थमयता उपस्थित करने का लालच कभी नहीं देती। वह प्रारम्भ में ही चेतावनी दे देती है मैं तुमको भावात्मक अनुरूपता तो दिखला सकती हूँ पर मुझसे तुम रूपसादृश्य की आशा न करो एक आलोचक का कहना है कि "It is implied in every conception of art that we should recognise its creation to be representation of realitiy but not the reality in itsself" कोई भी उच्चकोटि का चित्रकार अपनी चित्रकला में प्रकृत-वस्तु का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करता जिस तरह एक जादूगर दर्शकों की आंखों को बांध देता है और

बात की बात में हथेली पर पौधे उगा कर दिखा देता है। कोई भी महान कलाकार ऐसी धोखेबाजी करने का प्रयत्न नहीं करता ऐसा करना उतना कठिन भी नहीं। कोई भी साधारण चित्रकार अपनी तूलिका के कौशल से किसी मकान में एक गुफा का या अर्धचन्द्राकार मिहराब का ऐसा चित्रण कर सकता है कि थोड़ी ही दूर पर आपकी आंखें धोखा खा जायँगी। WIERTZ नामक बेलजियम कलाकार को इस तरह का कौशल प्राप्त था कि वह दरवाजे पर खड़े और गुर्राते हुए कुत्ते का ऐसा चित्रण कर देता था कि देखने वाला इस भय से भाग जाय कि कहीं वह कुत्ता आक्रमण न कर दे अथवा वातायन से झांकती हुई अपनी कोमल भुजाओं से आपको एक गुलाब का पुष्प अर्पित करने के लिये उत्सुक एक अर्ध नग्ना सुन्दरी का ऐसा चित्रण कर देता था कि दर्शकों को कठिन परीक्षा की घड़ियों का सामना करना पड़ता था। महाभारत में भी कथा आती है कि एक मय दानव ने युधिष्ठिर के महल पर ऐसी चित्रकारी कर दी थी कि दुर्योधन को जल के स्थान पर स्थल और स्थल के स्थान पर जल का भ्रम हो गया था। पर ऐसे चित्रकारों को महान कलाकार कह कर कभी भी प्रतिष्ठित नहीं किया गया है। कॉलरिज का कथन है कि कला-वस्तु को कभी भी ऐसा नहीं होना चाहिये कि प्रारम्भ में ही दर्शक उसे प्रकृत वस्तु मान कर चले "You must begin with an acknowledged total difference and then every touch of nature gives you the pleasure of an approximation to truth. अर्थात् (कला-वस्तु के सम्बन्ध में) आप (प्रकृत वस्तु से) अन्तर मान कर ही चलते हैं और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों उसमें सत्य की अनुरूपता देखकर आप प्रसन्न होते हैं।

कॉलरिज के कथन की सत्यता नाट्य कला की ओर देखने से और भी स्पष्ट हो जायगी। हम कभी-कभी "स्टेज के भ्रम" की बातें करते हैं। पर वास्तव में वहाँ कभी भी ऐसा भ्रम नहीं होता अभिनय के रङ्गमंच पर खड़े दुष्यन्त और शकुन्तला तथा राम और सीता को हम कभी भी वास्तविक राम और सीता नहीं समझते। यदि हम उन्हें वास्तविक समझते होते तो हमें क्या हक था कि हम उनके गुप्त प्रणय-व्यापार को आँखें फाड़ कर देखें और उसमें रस लें। यह स्पष्ट है कि दर्शक की दृष्टि में यह प्रणय-व्यापार वास्तविक नहीं, व्यक्ति का नहीं पर उसका कलात्मक चित्रण है। ऊपर हमने व्यक्तिगत और काव्यगत अनुभूति की चर्चा की है और बतलाया है कि काव्य में व्यक्तिगत अनुभूति का कोई स्थान नहीं होता। इसे यथार्थवाद की समस्या में लपेट कर भी उस पर

विचार किया जा सकता है।

कला का साधारण नियम है कि उसके यहाँ के वर्णित पात्र क्रियायें तथा भाव कभी भी प्रकृत तथा वैयक्तिक नहीं होते पर सृजित तथा सार्वभौमिक होते हैं। एक छोटी सी गीति-कविता में कवि के हृदय की सबसे प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पर सर्व सम्मति से जितनी आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है वहाँ साहित्य के अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। हम किसी गीतिकाव्य की आलोचना और प्रशंसा में यह कह भी देते हैं कि इसमें कवि के हृदय की धड़कन बोल रही है, उसका कलेजा मुर्गबिस्मिल की तरह तड़पता नज़र आ रहा है इसमें कवि की अनुभूतियों की सच्ची अभिव्यक्ति है। पर ऐसे अवसर पर भी ऐसे कथनों की सत्यता पर ज़रा सोच विचार कर विश्वास रखना चाहिये। हृदयस्थ भावों की सच्ची और प्रत्यक्षानुभूतियों के छन्दों के बंधनों में बांध कर उन्हें एक विशिष्ट आकार प्रदान कर कलात्मक रूप में पाठकों के सामने रखने में कवि समर्थ हो सका है यही इस बात का प्रमाण है कि इसमें वैयक्तिक अनुभूतियों की साक्षात् और ताज़ा अभिव्यक्ति नहीं है। वर्डस्वर्थ के शब्दों में यह Emotion recollected in tran quility है। पाठक को भी किसी कवि की कविता पढ़ कर यह कभी भी विश्वास नहीं होता कि वह शैली, कीट्स, कालिदास और महादेवी के हृदय की वैयक्तिक अनुभूति तथा प्रकार की बात सुन रहा है। वह सदा इस बात को जानता रहता है कि वह भोक्ता की अनुभूतियों को नहीं वरन् स्रष्टा की अनुभूतियों को पढ़ रहा है। यदि पाठक काव्य में वर्णित अनुभूतियों को कवि की व्यक्तिगत अनुभूति समझे तो शोकोद्गार को पढ़ कर उसमें रस लेने के बजाय वह कवि के यहाँ Condolena visit pay अर्थात् उसे दुख में सान्त्वना देने उसके घर पर चला जाय। पर शायद ही कोई पाठक ऐसा करता हो। काव्य में कलात्मक सहानुभूति वैयक्तिक रूप कभी भी ग्रहण नहीं करती। यदि ऐसा होता तो कविता को हम रख देते ताक पर और कवि के सुख और दुख मे जा कर हाथ बटाने लगते। शेक्सपियर के शब्दों में कला-प्रकृति का दर्पण अवश्य है ( Art holds the mirror up to nature) पर हम उस दर्पण के सदा प्रकृत वस्तु के प्रतिबिंब को ही देखते हैं। प्रकृत वस्तु हमारी नजरों से ओझल ही रहती है।

"कला प्रकृति की अनुकृति है Art is the imitation of nature" इस सिद्धान्त वाक्य में 'अनुकृति' शब्द पर विचार हुआ। पर कालरिज ने प्रकृति शब्द पर भी विचार किया है। क्या प्रकृति की अनुकृति पूर्णरूप से की जाय? प्रकृति में जितनी वस्तुयें दीख पड़ती हैं उनमें सब और प्रत्येक की

अनुकृति की जाय ? नहीं, केवल सुन्दर की ? पर सुन्दरता की परिभाषा क्या है ? मूलरूप में वैविध्य के ऐक्य तथा बहुत्व के एकत्व में सौन्दर्य का निवास है और आन्तरिक प्राणवत्ता और सुडौलता के सम्मेलन में सौन्दर्य का दर्शन होता है। निर्जीव पदार्थों में तो सौन्दर्य रूप की नियमितता ( regularity of form ) पर निर्भर करता है जैसे कुछ दानेदार पत्थरों में अथवा स्थापत्य में। इसमें सुन्दरता के लिये रूप विधान में एक क्रम का होना आवश्यक है। पर सजीव पदार्थ में सुन्दरता इस रूप विधान के क्रमागतत्व की दासी नहीं होती वह; स्वामिनी होती है और स्वत: स्फूर्ति नियमों के अतिरिक्त वह किसी दूसरे द्वारा परिचालित नहीं होती। यह अरुचिकर पदार्थों में भी रह सकती है। जड़ पदार्थ को रुचिकर होने के लिये उसके भिन्न-भिन्न अवयवों में नैरन्तर्य की आवश्यकता है पर सुन्दरता की अवस्थिति के लिये इसकी भी आवश्यकता नहीं। कहीं-कहीं तो इसके विच्छेद के कारण ही सुन्दरता प्रस्फुटित होती हैं। जैसा कि प्राय: कहा जाता है सुन्दरता भिन्न व्यक्तियों और भिन्न राष्ट्रों के लिये भिन्न-भिन्न नहीं होती और न तो उत्तमता, उपयुक्तता तथा उपयोगिता की भावना के साथ ही इसका कुछ सम्बन्ध है। सौन्दर्य भावना मनुष्य में प्रमाण-निरपेक्ष होती है अव्यवहित होती है intutive होती है। और सौन्दर्य भावना ही है जो स्वार्थ से तटस्थ, स्वार्थ निरपेक्ष और कभी-कभी तो स्वार्थ विरोधी पदार्थों में भी आनन्द की सृष्टि कर सकती है।

यद्यपि कालरिज ने कहा है कि कला का ध्येय भावों को जागृत कर पाठक के हृदय में साक्षात् आनन्दोद्रेक उत्पन्न करना है पर वह हो सौन्दर्य के माध्यम से ही—( The excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty ) यहाँ पर अन्तिम वाक्यांश 'सौन्दर्य के माध्यम से' ( through the medium of beauty ) पर ध्यान देना आवश्यक है। समुचित ध्यान से विचार करने पर पता चलेगा कि आनन्दोद्रेक को ही काव्य का एक मात्र लक्ष्य मान लेना किंचित भ्रामक है क्योंकि "The Appolo Belvedere is not beautiful because it pleases, but it pleases because it is beautiful." अर्थात् अपोलो बेलवेडियर का चित्र इसलिए सुन्दर नहीं है कि वह हमारे हृदय में आनन्द की सृष्टि करता है परन्तु वह आनन्दोद्रेक इसलिए करता है कि वह सुन्दर है। अतः कालरिज ने सुन्दरता के सम्बन्ध में कई स्थानों पर अपने विचार प्रगट किये हैं। एक स्थान पर वह लिखता है The beautiful, contemplated in its essentials, that is in kind

and not in degree, is that in which the many, still seen as many, becomes one. Take a familiar instance, one of a thousand. The frost on a window-pan has by accident cristallysed into a striking resem blance of a tree or sea-weed. With what pleasure we trace the parts, and their relation to each other, and to the whole. अर्थात् यदि सुन्दर पदार्थ को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि सुन्दरता की एक जाति ही अलग होती है; इसमें न्यूनाधिक मात्रा में सुन्दर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सुन्दरता वहाँ निवास करती है जहाँ बहुत्व, अपने बहुत्व वाले स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करता हुआ भी एक बड़े एकत्व में लीन हो जाता है। हजारों में से एक अति परिचित उदाहरण लीजिये। अकस्मात् बर्फ के टुकड़ों ने जम कर काँच के वातायन पर एक वृक्ष या समुद्री-शैवाल का रूप धारण कर लिया है। हम कितनी प्रसन्नता के साथ उसके भिन्न-भिन्न अंशों की खोज निकालते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करते हैं तथा पूर्ण इकाई से उनका क्या सम्बन्ध है उसकी छानबीन करते हैं।

अन्त में चलकर कालरिज ने कल्पना के साथ सुन्दरता का सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। हम शीघ्र ही कालरिज के कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे। कालरिज के शब्दों में Beautiful arises from the percieved harmony of on object, whether sight or sound, with the inborn and constitutive rules of the judgment and imagination, and it is always intutive. As light to the life, even such is beauty to the mind, which can not but have complacency in whatever pre-configured to its living faculties.

प्रतिभा और कल्पना के स्वाभाविक और रचनात्मक नियमों के साथ किसी चाक्षुष या कार्ण विषय-प्रतीति के सामञ्जस्य से ही सुन्दरता की उत्पत्ति होती है। और यह प्रतिभा तथा कल्पना सदा intutive होती है। जिस तरह रोशनी आँखों के लिए होती है उसी तरह सौन्दर्य भी मस्तिष्क के लिए होता है और यह बात निश्चित है कि मस्तिष्क की जीवित शक्तियों के साथ जिसका मेल बैठ गया वह मानस को तुष्टि प्रदान करने वाला तो होगा ही।

## कला-वस्तु और प्रकृति-वस्तु

कालरिज के कल्पना सम्बन्धी नियमों की चर्चा करने के पहले हमें दो

एक और बातों पर विचार कर लेना चाहिए। कला-वस्तु और प्रकृत-वस्तु में क्या अन्तर है? इसके उत्तर में तो यही कहा जा सकता है कि आप प्रकृति और मानव दोनों के ऊपर ध्यान देकर विचार कीजिये और देखिये कि दोनों में क्या अन्तर है? इस अन्तर में ही प्रकृत-वस्तु और कला-वस्तु के अन्तर की कुंजी मिलेगी। इन दोनों में स्पष्ट अन्तर तो यही है कि प्रकृति जड़ है और मानव चैतन्य। जड़ कहने का अर्थ यह नहीं कि उसमें चैतन्य का लवलेश भी नहीं। उसमें कुछ चेतनता की झलक तो मिलती है पर वह स्थूलता तथा जड़ता के आवरण में इस तरह घिरी है कि वह अपनी थोड़ी सी झलक मात्र दिखाकर शान्त हो जाती है, किसी बड़ी व्यापकता का निर्देश नहीं कर सकती। प्रकृति में योजना (plan) और (execution) रचना तथा विचार (thought) और (product) फल दोनों एक साथ मिले-जुले रहते हैं, एक ही साथ प्रगट भी होते हैं, वहाँ चेतन क्रिया (reflex act) का सर्वथा अभाव है। अतः वहाँ कोई नैतिक उत्तरदायित्व (moral responsibility) का भी प्रश्न नहीं उठता। परन्तु मनुष्य में चेतना और निर्वाचन की स्वतन्त्रता (reflection, freedom, choice) होती है। इसीलिए वह दृश्य सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। चैतन्य आने के पहले बुद्धि की जितनी प्रक्रिया, या क्रम हो सकते हैं, उन सबका दर्शन प्राकृतिक पदार्थ में होता है। मानव का मस्तिष्क ही focus है, (किरण समाहृत् केन्द्र है) जिसके चारों ओर प्रकृत-वस्तु-स्थित बुद्धि से किरणें विकीर्ण होती हैं। अतः ललित कलाओं के कलाकार की प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष इसमें है कि प्रकृति और मानव चैतन्यके संयोग से निर्मित, मानव मस्तिष्क के लिए ग्राह्य इन चित्रों को इस तरह उपस्थित करे कि प्राकृत-वस्तु में जिस चैतन्य मूर्ति को प्रतिबिम्बित करने की सामर्थ्य है वह साफ-साफ दृष्टि-पथ में आ जाय, प्रकृत-वस्तु के अन्दर से ही खींचकर या बाहर से आरोपित कर दें कि उसका भाव स्पष्ट हो जाय, बाह्य आन्तरिक बन जाय आंतरिक बाह्य, प्रकृति विचार बन जाय और विचार प्रकृति। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रतिभा इस मान्यता को लेकर आगे चलती है कि शरीर की आन्तरिक-प्रेरणा और चेष्टा मस्तिष्क बन जाने की हैं और वह वास्तव में मस्तिष्क ही है।

प्रत्येक कला कृति में अन्तर का बाह्य के साथ समन्वय रहता है, जड़ पर चेतन इस तरह जमाया रहता कि वह उसकी अपनी वस्तु सी ही प्रतीत होने लगता है। अतः कई बार ऊपर कहा जा चुका है कि सच्ची प्रतिभा सदा दो विपरीत के समन्वय-स्थापन-व्यापार में लग्न रहती है और कुछ

इस ढंग से कि उसका पता कलाकार को भी नहीं चलता। इस व्यापार की सफलता के लिए साधारण नियम यही है कि कलाकार अपने को कुछ समय तक प्रकृति से तटस्थ रक्खे ताकि वह पूरी शक्ति के साथ प्रकृति की ओर लौट सके। उसे अपने अन्दर से ही बौद्धिक नियमों के अनुसार ऐसी मूर्ति की रूप-रेखा तैयार करनी चाहिए कि उसमें स्वतन्त्रता और नियम दोनों का समन्वय हो, विधि में ही पालकता और पालकता में ही विधि वर्तमान हो। तभी वह प्रकृति से समानधर्मी हो सकता है और उसे पूरी तरह समझ सकता है। कलाकार अपने को कुछ समय के लिए प्रकृति से पृथक कर लेता है ताकि उसकी आत्मा जो प्रकृति से समानधर्मी है, प्रकृति की भाषा को सीख सके और उसके भिन्न भिन्न रूपों का ठीक से आकलन कर सके।

कलाकार को प्रकृत वस्तु में अन्तस्थ भाव की अनुकृति करनी चाहिए—उस भाव की अनुकृति जो बाह्य रूप और आकार के द्वारा परिलक्षित हो रहा है और जो प्रतीकों के द्वारा हमें अपनी बात बतलाता है अर्थात् उसे प्रकृति की स्पिरिट का अनुकरण करना चाहिए, ठीक इसी तरह जैसे हम अपने प्रिय व्यक्ति का अचेतन रूप में अनुकरण करते हैं। यही उपाय है जिसके द्वारा हम एक ऐसी कृति की सृष्टि कर सकते हैं जो बाहरी दृष्टि से प्रकृति के अनुरूप हो साथ ही मनुष्यों पर प्रभाव डालने वाली भी हो।

धीरता पूर्वक अध्ययन किया है, गम्भीरता पूर्वक चिन्तन किया है और सूक्ष्मता पूर्वक समझा है। तब उसकी भावनाओं से मिल कर ज्ञान ने intution का रूप धारण किया जिसके फलस्वरूप उस अपार शक्ति की उत्पत्ति हुई जिसने शेक्सपियर को काव्य के अत्युच्च शिखिर पर प्रतिष्ठित कर दिया।

काव्य में बुद्धितत्त्व के अस्तित्व के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ और कालरिज दोनों कवियों के विचार एक हैं। दोनों ही काव्य के सौष्ठव के लिए इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। वर्ड्सवर्थ के शब्दों में " Poems to which any value can be attached were never be produced on any variety of subject. but by a man who, being possessed of more than usual organic sensibility, had also thought long and deeply." अर्थात् किसी महत्त्वपूर्ण काव्य का प्रणेता वही हो सकता है जिसम असाधारण सम्वेदनशीलता के साथ ही दीर्घ-गम्भीर चिन्तन की मात्रा वर्तमान हो, दूसरा नहीं।" कवि के लिये इन बातों की आवश्यकता होती है। उसमें सम्वेदन शीलता होनी चाहिए। आंतरिक प्रेरणा होनी चाहिए। पर इन सबके पूर्व ही गम्भीर और दीर्घकालीन चिंतन के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व में एक विशिष्ट मानसिक अवस्था की स्थायी अवस्थिति का मानना भी आवश्यक है। इस तरह की मानसिक अवस्था पहले ही वर्तमान रहेगी तभी बाहरी घटनाएँ कल्पना की राह से जाकर कवि में उस प्रतिक्रिया को तुरन्त जगायेगी जिसमें कवि को सारं संसार में एक दिव्य अनुभूति का अनुभव होता है, जिस क्षण में घास और पत्ते भी दिव्य सौन्दर्य से मंडित दिखलाई पड़ते हैं ( The hour of splendour in the grass, of glory in the flower ) यदि चिंतन और मनन के द्वारा पहले से हो यह पृष्ठ-भूमि तैयार नहीं रहेगी तो कल्पना के द्वारा उपस्थित की गई प्रकृत वस्तु कवि की अनुभूति को शीघ्रता पूर्वक जगा नहीं सकेगी, उसे अपना आत्म निवेदन कवि की बुद्धि के प्रति करना होगा और जब तक बुद्धि विचार करती रहेगी तब तक (hour of splendour in the grass, of glory in the flower ) काफूर हो जायेगा और एक दिव्य उच्चकोटि के सृजन का अवसर हाथ से देखते देखते निकल जायेगा। अतः चिंतन और मनन के द्वारा पहले से ही पृष्ठ-भूमि का तैयार रहना आवश्यक है ताकि काव्योचित प्रतिक्रिया का तत्परत्व उसमें आ जाय।

## ग्राम्य-जीवन की काव्यात्मक उपयोगिता

वर्ड्सवर्थ के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय हम देख

चुके हैं कि किन युक्तियों से उसने ग्राम्य-जीवन और दैनिक व्यवहार में ग्रामीणों द्वारा प्रयुक्त भाषा की काव्योपगिता को प्रामाणित किया है। कालरिज का इस सिद्धांत से गहरा मत-भेद था और उसने अपने मत-भेद को BIOG RAPHIA LITERARIA के १७ वें और १८ वें अध्याय में बड़ी सशक्त और युक्तिपूर्ण भाषा में प्रतिपादित किया है। उसकी युक्तियों को और विचारों को संक्षेप में हम यहां लिख रहे हैं। पर पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे पुनः एक बार वर्डस्वर्थ के भाषा और काव्य-वस्तु सम्बन्धी सिद्धान्तों का अवलोकन करलें।

कालरिज का कहना है कि वर्डस्वर्थ ने जो निम्न ग्रामीण जीवन (Low and rustic life) की प्रशस्ति गाई है और कहा है कि ऐसी अवस्था में हृदयस्थ भावनाओं को फूलने फलने का अधिक अवसर मिलता है यह चिन्त्य है, विचारणीय है। इस पर एक-एक कर विचार कीजिये। यदि वर्डस्वर्थ के नाटकीय ढंग के काव्यों पर—The Brothers, Michael, Ruth, The Mad Mother इत्यादि पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि वे निम्न ग्रामीण वर्ग से नहीं लिये गये हैं। रही उनके रंग ढंग, विचार और भाषा की बात। इनमें उनकी विशिष्ट परिस्थिति का कुछ विशेष हाथ नहीं दीखता। उनकी भाषा ने, विचारों ने अथवा रंग-ढंग ने जो रूप धारण किया है उनके कुछ विशेष कारण हैं। उन विशेष कारणों की उपस्थिति में उनका वही रूप होता चाहे उनके आधार पात्र ग्राम निवासी हों या नगर निवासी। वे कारण दो हैं। प्रथमतः वह आर्थिक स्वतंत्रता जो मनुष्य को दूसरे की दासता से थोड़ी मुक्ति देती है, जो दिन-रात दूसरों के द्वारा शोषित किये जाने वाली अवस्था से छुटकारा दिलाती है परन्तु फिर भी मनुष्य को ऐश्वर्य और विलास का अवसर नहीं देती; जीवन में परिश्रम और मितव्ययिता की आवश्यकता बनी रहती है। दूसरा कारण इस तरह के परिश्रमी और मितव्ययी जीवन के साथ लगी रहने वाली धार्मिक और दृढ़ शिक्षा है जो बाइबिल तथा कुछ ऐसे ही ग्रंथों तक सीमित रहती है। ये दोनों कारण उपस्थित हों अर्थात् जीवन परिश्रमी और मितव्ययता का, पर स्वतंत्र हो और थोड़ी धार्मिक शिक्षा हो तो मनुष्य की भाषा और विचारों पर ग्राम और नगर-निवास का असर नहीं पड़ता। चाहे मनुष्य नगर निवासी हो या ग्राम निवासी, भाषा में कोई अन्तर नहीं होगा। Dr. Henry More का कथन है कि सीमित रूप से शिक्षित पर धार्मिक मनुष्य को बाइबिल के बार-बार पारायण करने से एक विशाल मनुष्य की भाँति अधिक सुन्दर शब्दों पर अधिकार हो जायेगा।

अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण और कृत्रिम वाक्यांशों के आ जाने से तो शैली में निकृष्टता आ जाती है।

जिन लोगों का दावा है कि प्रकृति के साहचर्य से मनुष्य के विचारों में स्वस्थता और सूक्ष्मता आती है, उसका हृदय पवित्र भावनाओं से भरा रहता है, प्रकृति के गम्भीर रहस्यों की स्पष्टता से हृदयंगम करने के कारण वह अधिक अंतर्मुखी प्रवृत्ति का हो जाता है उन्हें यह कभी भूलना नहीं चाहिए कि प्रकृति के सम्पर्क से प्राप्त इन गुणों से विभूषित होने के लिए मनुष्य में थोड़ी शिक्षा अथवा मौलिक संवेदन शीलता नहीं तो दोनों की युगपत् स्थिति आवश्यक है। तभी क्षण-क्षण अपने रूप को बदलने वाली प्रकृति के नाना रूप उसके हृदय को उन्नत कर सकते हैं। जहाँ इन चीजों का अभाव है वहाँ प्रकृति के सम्पर्क में पड़कर मनुष्य के हृदय में और काठिन्य और अनुदारता आ जाती है और मनुष्य स्वार्थी, हृदय-हीन, जड़ और इंद्रिय परायण हो जाता है। नागरिक जीवन की कृत्रिमता और जनसंकुलता के कारण मनुष्यों का पतन भले ही हो जाता है पर इन दोनों वस्तुओं के अभाव में प्रकृति के साहचर्य में रहते भी उसका कम पतन नहीं होता है। प्रकृति के साहचर्य में ही केवल वह शक्ति नही जो उन्हें बनाये रख सके।

उत्तरी वेल्स में प्रकृति अपने सारे सौन्दर्य और गौरव के लिए खड़ी हो रहती है पर वहाँ के निवासियों के लिये वैसी ही है जैसे अंधों के लिए चित्र और बहरों के लिए संगीत। इंगलैण्ड में Poor laws का इतिहास इस बात का साक्षी है। आर्थिक दशा को सुधारने के लिए सरकार की तरफ से कुछ दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए एक फण्ड खोला गया था और उसकी व्यवस्था स्थानीय व्यक्तियों के हाथ में ही दी गई थी। मेनचेस्टर, लिवरपूल और ब्रिस्टल जैसे शहरों में तो लोगों ने सच्चाई और ईमानदारी से उसकी व्यवस्था की पर ग्रामों में उसकी व्यवस्था में जो स्वार्थपरता और हृदयहीनता के दृश्य सामने आए वे स्वयं अपनी कथा कह रहे हैं। हालांकि इन ग्रामों में सब कार्य भार, व्यवस्था की देख रेख प्रकृति के सम्पर्क में पले किसानों पर ही थी।

यह भी कहना, जैसा कि वर्डस्वर्थ ने कहा है, कि एक ग्रामीण-किसान जिन वस्तुओं के साथ अहर्निश सम्पर्क में जीवन व्यतीत करता है उन्हीं के द्वारा भाषा की श्रेष्ठता का निर्माण होता है भूल है। प्रथमतः अशिक्षित ग्रामीण का शब्द-कोष इतना संकुचित होता है कि उसके सहारे प्रकृति के चिंतन-स्वरूप जो मानसिक व्यापार होते हैं उनकी अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। उनके द्वारा कुछ ही वस्तुओं और भावों को मूर्तिमान किया (individuali-

sed), जा सकता है और शेष की अभिव्यक्ति अस्पष्ट शब्दों के द्वारा करनी होगी। द्वितीयतः यह बात कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि किसी भाषा का श्रेष्ठतम अंश उन्हीं वस्तुओं के नामों तथा उनके सम्मेलन से निर्मित होता है जिनका पूर्ण या आंशिक परिचय ग्रामीणों को होता है। भाषा के श्रेष्ठतम अंश का निर्माण मनुष्य के चेतन मस्तिष्क के चिंतन का परिणाम है, वह प्राकृतिक रूप से नहीं बनती, मनुष्य सोच विचारकर चिंतापूर्वक अपनी आंतरिक क्रियाओं तथा काल्पनिक वस्तुओं और व्यापारों को एक विशेष शब्द से पुकारने लगता है और इसी प्रकार से भाषा में शब्द भण्डार की अभिवृद्धि होती है, साहित्य, काव्य, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में अभिव्यंजक शब्दों का निर्माण इसी चेतन व्यापार का परिणाम है। हम देखते हैं कि पशु और पक्षी-गण भी ऐसी ध्वनियों का उच्चारण करते हैं जिनके द्वारा वे भोजन-सामग्री, भय और रक्षा के भावों का अपने सहवर्गियों के प्रति अभिद्योतन करते हैं। पर ऐसे ध्वनि-समूह को हम भाषा के नाम से नहीं पुकारते हैं क्योंकि वे स्वभाव-जन्य हैं, नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही इनका निर्माण करती हैं, चेतन मस्तिष्क नहीं। सभ्य समाज का एक अशिक्षित व्यक्ति भी सुनकर या याद कर सहज में उन शब्दों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और उन्हें दैनिक व्यवहार में प्रयोग करने लगता है जिनका निर्माण विद्वानों और धर्म-शिक्षकों के द्वारा हुआ था। आज ग्रामीण किसानों में जो शब्द प्रचलित हैं उन पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह देखकर हम आश्चर्यित हुए बिना नहीं रहेंगे कि तीन या चार शताब्दी पूर्व उनका व्यवहार केवल विद्वानों, विश्वविद्यालयों और स्कूलों तक ही परिमित था। पर अब वे उच्च स्तर से चलकर धीरे धीरे निम्न स्तर में भी परिव्याप्त हो गये हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों, जिन्होंने अन्य और ग्रामीणों के बीच में धर्म का प्रचार करना ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया है, का कहना यह है कि साधारण से साधारण नैतिकता के अथवा मानसिक व्यापार के शब्दों का मिलना भी, उनकी भाषा में असम्भव है, और यह धर्म-प्रचार में सबसे बड़ी बाधा है। तिस पर तुर्रा यह कि इसी प्रकृति के सम्पर्क में उसके जीवन की प्रत्येक साँस व्यतीत होती है, बल्कि प्रकृति उन्हें अपने शुद्धतर, श्रेष्ठतर और भव्यतर रूप में घेरे रहती है। ऐसी परिस्थिति में उनकी भाषा को अधिक स्थिर और दार्शनिक ( more permanent and far more philosophical language, than that which is freanently sutstituted for it by the poets.) कहना जैसा कि वर्डस्वर्थ ने कहा है, कैसे न्यायानुमोदित कहा जा सकता है। हाँ वह कवि

जो अपनी कविता में सारहीन नूतनता के बल पर पाठकों की कौतूहल-वृत्ति को गुदगुदाना चाहता है शब्दों का व्यर्थ गड़बड़झाला उपस्थित करता है वह काव्य-भाषा, सार्थक और नैसर्गिक भाव-वाहिनी भाषा के बदले में मूर्खता और दम्भ की भाषा खड़ा करता है। पर यह ग्रामीण भाषा का अधिकारापहरण नहीं सार्थक है और नैसर्गिक-भाव-वाहिनी भाषा के साथ अन्याय है।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य के लिए ग्रामीण मनुष्यों की वास्तविक भाषा के प्रयोग को अनुमोदित किया है—'a selection of real language of men' that is, men in low and rustic life) पर इस वाक्य में वास्तव (real) शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। प्रत्येक मनुष्य की भाषा उसके ज्ञान, परिस्थिति, पेशा और वातावरण के कारण अलग-अलग होती है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी भाषा वास्तविक नहीं। एक सिपाही की भाषा, नाविक की भाषा, मजदूर की भाषा, अध्यापक की भाषा वास्तविक होते भी भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा के निर्माण में तीन तत्त्वों का हाथ रहता है, उसकी वैयक्तिकता, उसके वर्ग के साधारण धर्म, और सार्वभौमिक प्रयोग के शब्द और वाक्यांश। तब हमें वास्तविक (real) शब्द के स्थान पर सर्व-साधारण (LINGUA COMMUNIS) शब्द का प्रयोग करना चाहिए और यह सर्व-साधारण भाषा किसी वर्ग, या मनुष्य की भाषा के उचित संशोधन या परिष्कार से गढ़ी जा सकती है। इसके लिए कोई आवश्यक नहीं कि ग्रामीण किसानों की भाषा का ही आधार लिया जाय। वास्तव में बात यह है कि ग्रामीण किसान की भाषा को काव्योपयोगी बनाने के लिए उसमें इतने महत्त्वपूर्ण और अधिक परिवर्तनों की आवश्यकता होगी कि उतनी काट-छाँट से तो व्यापारी, मजदूरी या नाविक-किसी भाषा को भी काव्योपयोगी बनाया जा सकता है।

वर्ड्सवर्थ ने अपने कथन की व्यापकता को थोड़ा सीमित करने की चेष्टा की है और कहा है कि प्रदीप्त क्षणों में ( in a state of excitement ) प्रयुक्त ग्रामीण किसान की भाषा का उपयोग काव्य में होना चाहिए। पर इससे काम नहीं सधता। क्योंकि हर्ष, शोक या क्रोध से अभिभूत मनुष्य की वाणी कौन सा रूप धारण करेगी और उसकी भाषा कैसी होगी यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहता है कि वक्ता की मानसिक सम्पन्नता कैसी है, उसके मस्तिष्क में साधारण सत्यों, भावों और मूर्तियों की कहां तक उपस्थिति है, उसका शब्द-भण्डार कैसा है; दूसरे शब्दों में उसका मानसिक धरातल

कैसा है। उत्तेजना ( excitement ) का काम सृजन करना नहीं है परन्तु सृष्ट वस्तु में ही एक गति और प्रवाह ला देना है। तर्क के लिए यह एक क्षण के लिए मान भी लें कि हर्ष और शोक की उत्तेजना कोई नूतन विचार, भाव और मूर्ति तथा नई अनुभूति या अद्भुत सत्य का आविष्कार कर भी देती है पर उनमें प्रेषणीयता लाने के लिये शब्द ही माध्यम हो सकते हैं और वे शब्द वे ही हो सकते हैं जो वक्ता के मस्तिष्क में पूर्व संचित हों। हाँ, उत्तेजना के कारण वे एक असाधारण रूप में मिश्रित और एकत्र भले हो कर दिये जाते हों। साधारण ग्रामीण किसान के शब्द भण्डार किस तरह गहरी भावानुभूतियों के उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकते इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

यहां एक बात पर भी विचार कर लेना चाहिये। थोड़ी देर के लिये यह बात स्वीकृत भी कर ली जाय कि काव्य में ग्रामीण किसान को दैनिक व्यवहार की भाषा का अनुकरण होना चाहिये। पर किसी भाषा के कुछ शब्दों के प्रयोग को ही भाषा का अनुकरण नहीं कह सकते। उसके वास्तविक अनुकरण के लिये उसके व्याकरण का अनुकरण होना चाहिये, उसके शब्द किस क्रम से आते हैं, उसके वाक्य विन्यास में उद्देश्य और विधेय का संस्थान क्या है इन बातों पर भी ध्यान रखना चाहिये। काव्य में ग्रामीण किसानों द्वारा व्यवहृत शब्दों का अल्प या अधिक मात्रा में प्रयोग देखकर ही उसकी काव्योपयोगिता पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। हमें देखना होगा कि ग्रामीणों के वाक्य संस्थान क्रम का कहां तक अनुकरण संभव है। ग्रामीणों की भाषा की यह विशेषता है कि उनके वाक्य उबड़ खाबड़ होते हैं, उनके वाक्यों के पृथक्-पृथक् अंग एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होते, उनमें वह आसत्ति और आकांक्षा नहीं होती जो एक वाक्य के लिए अपेक्षित है। ग्रामीण का मस्तिष्क उतना विकसित नहीं होता कि वे भिन्न-भिन्न भावों की अन्विति कर उनके व्यापक रूप की कल्पना कर सकें। अतः उनके वाक्य में भी शिथिलता होती है। पर काव्य में एकाधिक भावों के समन्वित रूप की ही स्थिति होती है, भावों की एक क्रमिक धारा चलती रहती है जो एक व्यापक भाव में लीन हो जाती है। अब पाठक स्वयं विचारें कि एतद्धर्मी काव्य के लिए ग्रामीण भाषा कहाँ तक उपयोगी हो सकती है।

काव्य की भाषा के साथ छन्दों का प्रश्न लगा हुआ है। छन्दों का अवस्थान काव्य की विशेषता है। यहाँ तक कि छन्दोमय रचना को ही काव्य कहा जा सकता है। वर्डस्वर्थ की मान्यता थी कि गद्य और पद्य की भाषा में न तो

कोई विशेष अन्तर है और न हो ही सकता है। वर्डस्वर्थ ने ग्रे की एक कविता का एक अंश उद्धृत किया है और दिखलाया है कि वे ही शब्द अधिक काव्योचित बन पड़े हैं जो साधारण गद्य के अधिकाधिक अनुरूप हैं, हां केवल छन्दबद्धता को छोड़कर। पर कालरिज ने बतलाया है कि यह सिद्धान्त एक दम भ्रामक है। चाहे हम छन्दों की उत्पत्ति की अथवा उसके प्रभाव की दृष्टि से विचार करें, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि गद्य और पद्य की भाषा कभी भी एक तरह की नहीं हो सकती, उसमें अन्तर आवश्यक-रूप से रहेगा ही।

अब छन्दों की उत्पत्ति पर विचार कीजिये। छन्दों की उत्पत्ति क्यों होती है? बात यह है कि मनुष्य का हृदय जब किसी प्रबल भावावेग से अभिभूत हो जाता है अथवा जब भावों की तरंग जोरों से उठती है, तब चाहे वह भाव दुखावह हो या सुखावह, मनुष्य क्षुब्ध हो जाता है, वह अपने ऊपर एक अतिरिक्त वेदना का भार महसूस करने लगता है। अतः इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये वह इच्छा पूर्वक और प्रयत्न पूर्वक एक ऐसे मानसिक सन्तुलन की सृष्टि करता है जिसकी परिधि में आकर भावों को अपने प्रचण्डाघात की शक्ति का पूर्ण रूप से प्रदर्शन करने का अवसर न मिले, उन पर थोड़ा नियंत्रण हो। इस मानसिक सन्तुलन की अवस्था में छन्द की उत्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि छन्द मनुष्य की इच्छा, चेष्टा और प्रयत्न के परिणाम हैं और वह यह चेष्टा और प्रयत्न इसलिये करता है कि भावों में से प्रचण्डता और उग्रता को निकाल कर उन्हें आनन्ददायक बना कर हृदयग्राह्य बना दिया जाय। खान में पड़ा हीरा, हीरा ही है पर चूंकि उस पर अनेक बाह्य पदार्थों से तह पड़ी है जो उसके हृदयग्राही बनने में बाधा उपस्थित करती है अतः उसका परिमार्जन और परिष्करण करके हम उसे हृदयग्राह्य बनाते हैं। अतः इन बातों को दृष्टि में रखते हुए किसी भी छन्दोबद्ध रचना में हम दो बातों की मांग करेंगे। प्रथमतः तो यह कि चूंकि छन्दों के तत्व की अवस्थिति भावों की प्रबुद्ध उत्तेजना के कारण होती है अतः छन्दों में उत्तेजित अवस्था की भाषा की अवस्थिति होनी चाहिए। दूसरी बात कि चूंकि छन्द की रचना मनुष्य के प्रयत्न और कृत्रिम चेष्टा का परिणाम है ताकि भाव आनन्दमय होकर हृदयग्राह्य हो जायँ अतः इसकी भाषा में मनुष्य के इस कृत्रिम प्रयत्न की झलक स्पष्ट होनी चाहिए। नैसर्गिक उत्तेजना और प्रयत्नसाध्य कृत्रिमता दोनों को छन्द में आकर एकाकार हो काव्य के लक्ष्य की पूर्ति में अग्रसर होना चाहिए। यह भी बात निश्चित है कि इन दो बातों की एकाकारिता काव्य के विविध रूप और अलंकारिकता के

रूप में परिणत हो जायेगी। अतः छन्द की अवस्थिति में ही ये तत्व मौजूद हैं जिनके कारण भाषा अधिक सचित्र, ध्वनिमय और अलंकारों पूर्ण होगी। गद्य की रचना में ये तत्व उपस्थित नहीं रहते अतः वहां निरलंकृत, सीधी-सादी भाषा खटकती नहीं। पर छन्द की उत्पत्ति हमारे आध्यात्मिक जीवन की विशिष्ट मांग के रूप में होती है जिसकी पूर्ति एक विशिष्ट भाषा के द्वारा होती है। अत: गद्य और पद्य की भाषा कभी भी एक तरह की नहीं हो सकती।

अब छन्द के प्रभाव की दृष्टि से काव्य में प्रयुक्त भाषा के प्रश्न पर विचार कीजिये। छन्द में बद्ध होकर भावों में एक दीप्ति आ जाती है और वे आकर्षक हो उठते हैं और पाठकों के ध्यान को आकर्षित कर लेते हैं। छन्द के कारण पूरे काव्य मे आश्चर्योत्पादकता बनी रहती है, छन्द, कौतूहल को थोड़ा शान्त भी कर देता है और जागृत भी रखता है और इस जागृत और शान्त कौतूहल के भावों में आदान-प्रदान चला करता है जो व्यष्टि रूप में इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका भान भी चेतन मस्तिष्क को नहीं होता पर वे सम्मिलित रूप में काफी बड़े हो जाते हैं। शराब की मात्रा थोड़ी ही होती है, खमीर की मात्रा भी थोड़ी ही होती है, किस रूप से वह अपना काम करती है यह पता भी नहीं चलता पर उनके प्रभाव को कौन अस्वीकार कर सकता है? ठीक उसी तरह छन्द को भी समझिये; छन्द की क्रियात्मक प्रणाली के प्रत्येक पद को देखना तो कठिन है पर उसके सामूहिक प्रभाव सब को दृष्टिगोचर होते हैं। पर एक बात सबको विदित होगी कि सुरापान करने वाले व्यक्ति के लिये एक विशिष्ट प्रकार के पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है क्योंकि सुरा-पान के कारण व्यक्ति की समस्त नाड़ियों में जो उत्तेज़ना आ जाती है जिसके वेग को सम्हालने के लिये एक अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती है जो साधारण भोजन के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती और जिसके अभाव में हमारी उत्तेजना शरीर के सुरक्षित निधि (reserved fund) से अपना पेट भर-भर कर अन्त में उसे वह उसे निश्शेष कर देगी। कल्पना कीजिये कि हम अन्धेरे में ऊपर छत से किसी सीढ़ी की राह से उत्तर रहे हैं। हम अन्तिम सीढ़ी पर आ गये हैं पर अनजान में ही दो-तीन सीढ़ियों पर से कूद जाने के लिये अपनी मांसपेशियों को हमने तैयार कर लिया है। पर वहाँ कूदने जैसी कोई चीज ही नहीं होती। वहाँ कितनी निराशा होती है, Frustration होता है। मनुष्य के हृदय को कुछ ऐसा ही धक्का लगता है जब वह छन्दों में प्रयुक्त भाषा और भाव को उसके अनुरूप नहीं पाता।

ऊपर पद्यछन्दोबद्ध रचना के भाषा वशिष्ट्य के बारे में जिन मूल सिद्धान्तों की स्थापना की गई है उन्हीं के सूत्र को पकड़ कर अपने पक्ष के समर्थन में अनेकों तर्क दिये जा सकते हैं। पर आज-तक जितने श्रेष्ठ कवि होगये हैं, जिस श्रेणी में प्रतिष्ठित होने का वर्डस्वर्थ पूर्ण अधिकारी है, उनके काव्य ही इसके प्रमाण हैं। उनकी रचना से यह बात स्पष्ट होजाती है कि पद्य और गद्य की भाषा कभी भी एक नहीं हो सकती, उन मे वास्तविक अन्तर ( Essential difference ) है। यदि वर्डस्वर्थ के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन किया जाय तो परिणाम यह होगा कि छन्द केवल देखने भर का छन्द रह जायगा ( Will become metre to the eye only ) जीवन-हीन निष्प्राण।

अब तक कालरिज ने छन्दोबद्ध रचना के भाषा वैशिष्ट्य पर विचार किया है और प्रतिपादित किया है कि छन्द के कारण ही पद्य और गद्य की भाषा में अन्तर अनिवार्य हो जाता है। इसके उत्तर में वर्डस्वर्थ की ओर से यही कहा जा सकता है कि छन्द की अवस्थिति के कारण शैली में कुछ अन्तर अवश्य आजाता है पर इससे भाषा पर कुछ भी दर्शनीय प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। छन्द के कारण भाषा में नाद-सौन्दर्य भले ही आजाय, लय और गति का समावेश होजाय, शब्दों के वाक्य संस्थान में व्यतिक्रम होजाय पर इसका Poetic diction से कोई सम्बन्ध नहीं। छन्द में जो परिवर्तन होते हैं वे नियमानुकूल होते हैं, एक व्यक्ति चाहे तो उन्हें पहले से ही मालूम अर्थात् Anticipate भी कर ले सकता है, पर जिसे हम Poetic diction कहते हैं उसमें सारे परिवर्तन वे सिर-पैर के और वे बुनियाद होते हैं। बेचारा पाठक कवि की कृपा पर रहता है, उसकी सनक पाठक को जिस तरह उठाये और बठाये। पर कालरिज का कहना है कि इस तरह के सनकी और झक्की व्यक्ति को हम कवि नहीं कहते और न उसकी रचना को काव्य। यदि इस तरह का व्यक्ति जो भाषा के साथ इस तरह का अत्याचार कर सकता है उसके हाथ में छन्द पड़ जाय तो खुदा हाफ़िज़। और वह पाठक ही कैसा जो इस तरह की वे-सिर-पैर की बातों को पढ़ता चला जाय? कवि के लिये कोई आवश्यक नहीं कि वह क्रोधी या ईर्ष्यालु मनुष्य की खोज में मारा-मारा फिरे ताकि अपने क्रोधी और ईर्ष्यालु पात्र के लिये उपयुक्त भाषा पा सके। नहीं, कवि की सृजनात्मक प्रतिभा जो पिण्ड में ब्रह्माण्ड (all in each) और अनेकत्व में एकत्व का रहस्य दिखा देती है वही उसके लिये सारा समान मुहय्या कर देती है। कवि को दूसरे प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं।

कालरिज और वर्डस्वर्थ का पक्ष अपने-अपने दृष्टिकोण में इतना सटीक और सप्रमाण है कि दोनों के बीच किसी के पक्ष में अपना निर्णय देना कठिन है। कालरिज यह सोचते हैं कि छन्द के कारण काव्य की भाषा आलंकारिक और सुसज्जित हो जाती है पर वर्डस्वर्थ सोचता है कि यदि छन्द की सृष्टि, जैसा कालरिज कहते हैं, भावों की उग्रता का नियन्त्रण करने के लिये है (To hold in check the working of the man's passion) तूफान शान्त करने के लिये है तो इसका परिणाम यह होगा कि इसकी भाषा भी अस्वाभाविकता से मुक्त होकर सीधी-सादी होगी। कविता उत्तेजना की सृष्टि है, ठंडी उत्तेजना की (Passion recollecetd in tranquillity) आँधी और तूफ़ान की नहीं, tumult of soul की नहीं। छन्द का काम इस हार्दिक शान्ति की अभिव्यक्ति में योग देना है। आज जब मैं प्रगतिवादी कवियों की कविताओं के भावों की उमड़न को देखता हूँ, आँधी और तूफ़ान को देखता हूँ, Tumult of roul को देखता हूँ, और देखता हूँ कि किस तरह से उनके द्वारा समाज में घृणा और विद्वेष के बीज बोये जा रहे हैं, तो हमें यह कहने की इच्छा होती है कि हमारे कवि वर्डस्वर्थ की बातों से कुछ सीखते और अपने हृदय की आग को घर जलाने वाली लपटों के रूप में नहीं पर आलोकित करने वाले प्रकाश के रूप में रखते। मैं चाहता हूँ कि उनकी रचनाओं में उत्तेजना की अपेक्षा उद्दीपन अधिक हो, और अधिक हो दाह की अपेक्षा प्रकाश, कलह के चटखारे की अपेक्षा आत्मश्रद्ध गाम्भीर्य।

## कुछ अन्य बातें—

कालरिज ने अपनी पुस्तक biographia literaria के २२ वें अध्याय में वर्डस्वर्थ की कविताओं के गुण और दोषों का विवेचन किया है। हिन्दी में आजकल आलोचना के क्षेत्र में बड़ी धांधली चल रही है। जिस वक्त आलोचना के नाम पर चाटूक्तियों के फ़ौवारे छोड़े जाते हों तथा कटूक्तियों के तीर, उस समय मैं प्रत्येक पाठक और आलोचक से निवेदन करूँगा कि वे कम से कम एक बार इस अध्याय को अवश्य पढ़ें और देखें कि आलोचना कैसे की जाती है, किसी कवि के दोषों का विवेचन और गुणों का प्रगटीकरण किस तरह किया जाता है। कालरिज ने वर्डस्वर्थ की कविताओं के उद्धरण दे देकर बताया है कि अवश्य उसकी भाषा कहीं शिथिल और गंवारू सी हो जाती है या होती दिखलाई पड़ती है पर दूसरे ही क्षण वह अपनी प्रकृत गौरव भूमि पर लौट आती है। मानो कोई राजहंस कुछ क्षण के लिये सरिता के तटपर घास और कणों से खेलकर पुनः प्रशान्त जलधारा के मध्य में

आकर पूरे सौन्दर्य के साथ तैरने लगता है।

इस अध्याय को पढ़ने के बाद हम कुछ निम्नलिखित सिद्धान्त निकाल सकते हैं। यथा—(१) किसी काव्य की शैली में अवांछनीय और आकस्मिक परिवर्तनशीलता नहीं होनी चाहिये। ऐसी परिस्थिति में हृदय की विचित्र दशा हो जाती है। पाठक का हृदय भाव-प्रवाह में बहता चला जाता है तब तक उसे मोड़ ले लेना पड़ता है। इस प्रवाह के वर्णन के लिए वह अपने को सम्हाले भी नहीं रहता है तब तक फिर मुड़ने की आवश्यकता होती है। ऐसी झकझोर में पड़कर पाठक एक कष्ट का अनुभव करता है जो रसा-नुभूति का बाधक होता है। कदाचित् इसी बात को महसूस कर संस्कृत के कवियों ने महाकाव्य के सर्गों में छन्द परिवर्तन के नियम निर्धारित कर दिये हैं। (२) किसी रचना में (matter of factness) स्थूल इतिवृत्तात्मकता नहीं होनी चाहिये अर्थात् लेखक को न तो घटना या वस्तु के विस्तारपूर्वक वर्णन में ही संलग्न होना चाहिये और न ऐसी घटनाओं का ही उल्लेख करना चाहिये जो वास्तविक जीवन के लिये तो सार्थक हों पर काव्यात्मकता के लिये उनकी कोई उपयोगिता न हो। इस दैवयोग (accidentality) को अरस्तू ने कला की सबसे अधिक विनाशकारिणी वस्तु कहा है। स्थूल ब्योरेवार वर्णनात्मकता के विरुद्ध लेसिंग ने काफी कहा है। उन तर्कों की पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं। कालरिज के ये शब्द मनन करने योग्य हैं, "Truth narrative and past, is the idol of historians (who worship dead things) and truth operative and by effects continually alive, is mistress of poet, whc had not her existence in matter, but in reason." ऐतिहासिक मृत वस्तु की पूजा करता है अतः वर्णनात्मक अतीत उसका आदर्श हो सकता है। पर कवि क्रियात्मक और प्रभावों में सजीव सत्य का सेवक होता है और इस सत्य का निवास स्थूल द्रव्य में नहीं पर बुद्धिगम्यता में होता है।

ऐसी-ऐसी रचनायें अपने ( साहित्यिक ) ध्येय से गिर जाती हैं। कारण कि उनका ध्येय साक्षात् आनन्दोद्रेक करना छोडकर सत्य का प्रतिपादन करना हो जाता है, वे एक रस सृष्टि का साथ परित्याग कर सत्य से लपक-झपक करती दिखलाई पड़ती हैं और वह कौन ऐसा मनुष्य है जो घर की बहू को औरों से नाता स्थापित करते देख, चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हो, मन में क्षुब्ध नहीं होता। कल्पना कीजिये कि कवि को किसी आख्यानक काव्य के प्रसंग में एक ऐसे पात्र की सृष्टि करने की आवश्यकता हुई जो कवि

और दार्शनिक दोनों हैं। कवि ने अपने सिद्धान्तों को उमंग में आकर उसे झाड़ू देने वाला बना दिया और उसमें सत्यता का पुट देने के लिये उसकी वँशावली, जन्म और परिस्थितियों का सविस्तार वर्णन करने लगा जिनके कारण एक झाड़ू देने वाला कवि और दार्शनिक भी बन सका। ये सब बातें किसी आत्म कथा के लिये भले ही उपयोगी हों पर काव्य के लिये नहीं। काव्य में पात्रों में दृढ़ व्यक्तित्व के साथ-साथ साधारणत्व का रहना अनिवार्य है। इन ब्योरों से पाठक की विश्वास-मात्रा दृढ़ होने के बदले उस पर आघात पहुँचाती है। पाठक को खूब मालूम रहता है कि काव्य में अभिव्यक्त भावनाएं लेखक के कृत्रिम व्यक्तित्व की हैं, कवि की हैं, पर इन ब्योरों के कारण उसके भूल जाने के जो कुछ भी अवसर रहते हैं वे भी खो जाते हैं

A faith which transcends even historic belief, must absolutely put out this mere poetic analogue of faith, as summer sun is said to extinguish our household fire, when it shines full upon them what would otherwise have been yielded to as a pleasing fiction, is repelled as revolting falsehood.

कहा जाता है कि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य जब पूर्ण तेज के साथ चमकता है तो गृहाग्नि के तेज को म्लान कर देता है। उसी तरह ऐतिहासिक विश्वास को भी पार कर जाने वाला विश्वास इसको बुझा देता है। जिसे हम एक मनोरञ्जक कहानी-मात्र कहकर टाल देते हैं—उसे हमारा हृदय एक घृणास्पद असत्य के रूप में अग्राह्य समझकर दूर फेंक देता है।

(३) तीसरे प्रकार के दोष को मानसिक-स्फीति (Mental bombasd) कह सकते हैं। यह दोष प्रायः प्रतिभावान व्यक्ति में पाया जाता है। किसी साधारण तुच्छ सी बात को बहुत चढ़ा-बढ़ाकर देखना, छोटी सी वस्तु में भी एक विराट रहस्य का दर्शन कर लेना और उसे उसी रूप में वर्णन करना Mental bombast या मानसिक स्फीति कहलाता है। एक उदाहरण लीजिये। वर्डस्वर्थ को एक साधारण पुष्प Daffodil का वर्णन करना है। वह कहता है, "Thy flash upon thy inward eye, which is the bliss of solitude."

हम पूछते हैं यदि साधारण पुष्पों का इस तरह की स्फीत भाषा में वर्णन होने लगे तो किसी महान त्याग के कर्म पर आत्म-निरीक्षण के बाद हमारी आत्मा (Inward eye) को जो एक अपार उल्लास होता है

उसके वर्णन के लिये किन शब्दों का प्रयोग होगा ? तिस पर भी इन दोनों पँक्तियों के बाद हम सुनते हैं कि—

"And then my heart with pleasure fills
And dances with the daffodils."

तब तो ऐसा मालूम होता है कि किसी ने हमें आसमान पर चढाकर ज़मीन पर पटक दिया। इस तरह का (mental bombast) हमारे छायावादी कवियों में प्रचुरमात्रा मे पाया जाता है। वर्ड्सवर्थ ने कुछ किसानों का वर्णन किया है। कवि कहीं यों ही घूमने के लिये जा रहा था, उसने कुछ किसानों को देखा। १२ घण्टों के बाद पुनः लौटकर देखता है तो वे उसी स्थान पर हैं। इस पर वर्ड्सवर्थ ने वैसा भडकीला वर्णन ऐसी भडकीली भाषा मे किया है जो तीस शताब्दियों तक अप्रगतिशील रहने वाले महान् चीन साम्राज्य के बारे में विशेष उपयुक्त हो सकता है।

## विधायक कल्पना

अँग्रेजी शब्द 'Imagination' लेटिन धातु से निकला है, जिसका अर्थ है रूपों की सृष्टि करना। संस्कृत में इसका ठीक पर्यायवाची शब्द है 'कल्पना' जो क्लृप धातु से निकला है जिसका भी अर्थ है करने की सामर्थ्य रखना; अर्थात् सृष्टि करना। यूरोपीय साहित्य में किसी रसात्मक वस्तु की रचना की सार्थकता के लिये इसकी बडी महिमा गाई गई है। कालरिज ने इस पर व्यवस्थित-रूप से अपने विचार प्रगट नहीं किये हैं, पर जो कुछ भी उसने इस विषय पर कहा है उससे हम उसके मन्तव्य का पता चला सकते हैं।

कवि की वह शक्ति जिसे हम कल्पना कहते हैं, उसकी ओर कालरिज का ध्यान कैसे गया ? इसका इतिहास बडा ही रोचक एवम् शिक्षाप्रद है। पाठकों को यह मालूम ही होगा कि १८ वीं शताब्दी की कविता किस तरह निर्जीव हो गई थी और प्रत्येक सहृदय-व्यक्ति कविता के प्राणों का स्पन्दन न पाकर विक्षुब्ध-सा हो गया था। कालरिज भी उन लोगों मे था वह अपने बुज़ुर्ग कवियों की कविताओं को पढ़ता था पर उनमें वांछनीय वस्तु को न पाकर हताश हो जाता था। उसकी दशा उस व्यक्ति की-सी हो रही थी, जिसका दम एक निरन्ध्र कक्ष में बन्द होने के कारण घुट रहा हो और वह एक-एक श्वाँस के लिये तडपता हो। ऐसी ही स्थिति में एक दिन वर्ड्सवर्थ ने अपनी कविता सुनाई। कालरिज को ऐसा लगा कि मानों उसे वह वस्तु मिल गई जिसकी तलाश उसके हृदय में थी। उसमें किसी तरह के भावों की खींचा-तानी नहीं, शैली की कृत्रिमता नहीं, विचित्र-चित्रों की कोई भरमार नहीं,

तिस पर भी वह अन्ततंत्र की आनन्दग्रन्थि को मानों खोल देती है, हृदय को आप्लावित करने के साथ ही साथ मस्तिष्क को सन्तुष्ट करती है। इसमें उदात्त-भावों के साथ गम्भीर विचारों का सम्मेलन था, वस्तु की इन्द्रिय-ग्राह्य प्रतीति के साथ उसके सृजितरूप का अपूर्व मनोहर समन्वय था। सारे काव्य में वातावरण की एकता थी और जीवन की साधारण घटना, 'अतिपरिचयात् अवज्ञा' से लांछित घटना ने भी एक आदर्श रूप धारण कर लिया था। कालरिज ने विचार करना प्रारम्भ किया कि इसका क्या रहस्य है? वर्ड्सवर्थ की कविता का इतनी प्रभविष्णु बन जाने का क्या कारण है, उसने जांच-पड़ताल के बाद परिणाम निकाला कि इस रहस्य और शक्ति की जननी कल्पना है।

किसी कलात्मक सृजन में यह कल्पना कौन-सा व्यापार करती है। बहुत लोग कहेंगे कि यह वर्ण्य वस्तु के जोड़-तोड़ या मेल की या समानधर्मी वस्तुओं को वह ला लाकर रखती है, अथवा आकाश-पाताल का कुलावा एक करती है। पर इस व्यापार के द्वारा तो वस्तुओं का निर्जीव संघात उत्पन्न हो जा सकता है, तरह-तरह की वस्तुओं को एक साथ जमा कर रख दिया जा सकता है। बहुत से कवियों ने ऐसा किया भी है। पर वर्ड्सवर्थ की कविता में विभिन्न-विभिन्न वस्तुओं का निरा संघात ही नहीं पर सारी विविधताएँ एक सौन्दर्य में जाकर लय हो गई हैं और सत्य की आभा से उद्दीप्त हैं। वस्तु वही है जो प्रकृति में पाई जाती है, पर कवि के हाथों में पड़कर उसमें एक अपूर्वता का सञ्चार हो गया है, उसमें सौन्दर्य आ गया है, बुद्धि उसे अपना सजातीय समझ कर ग्रहण कर लेती है। इसमें दो विशेषताएं मिल कर एक हो जाती हैं। इस मानसिक अवस्था को जिसके द्वारा काव्य-वस्तु का सृजन हुआ है, केवल भावों की उमड़न ही नहीं कह सकते हैं। अतः वह आत्मा की एक उदात्ततर शक्ति कही जा सकती है। यही कल्पना है जिसका काम सृजन करना है।

कला-कृति या कविता सुन्दर मालूम पड़ती है, भव्य मालूम पड़ती है। कोई वस्तु तभी भव्य मालूम पड़ सकती है जब देखने वाले को उसकी भव्यता की अनुभूति हो सके। यदि द्रष्टा उसकी भव्यता और महत्व को अनुभव करे ही नहीं तो उसकी भव्यता निरर्थक है। किसी वस्तु के बारे में इन्द्रियों द्वारा जो संवेदन होता है उतने ही भर ज्ञान को भव्यता या अनुभूति नहीं कह सकते। इसमें और भी कुछ रहता है। यह आत्मा की विधायक शक्ति, कल्पना है जिसके द्वारा उसमें एक विशिष्टता, भव्यता अथवा महत्व का समावेश हो जाता है। यह मस्तिष्क को प्रकट वस्तु के मेल में लाकर और प्रकट

वस्तु को मस्तिष्क के मेल में लाकर दान और प्रतिदान की क्रिया के द्वारा कला-वस्तु का निर्माण करती है ।

"AH ! from the soul itself must issue forch forth.
A light, a glory, a fair luminous cloud.
Enveloping the earth.
And from the soul itself must then be sent.
A Sweet, and powerful voice, of its own truth,
Of all sweet sound the life and the element"

मनुष्य की कल्पना अपनी गाँठ से वही देती है जो प्रकृति से पाती है और वही प्रकृति से पाती है जो कुछ देती है। प्रकृति और चेतन मस्तिष्क मे यही समानधर्मिता है, जिसके द्वारा कलात्मक सृजन सम्भव होता है। कलाकार की कल्पना अपनी ओर से प्रकृति वस्तु में उतना ही सम्मिश्रण करती है जिसे प्रकृति सहज रूप से अपने में समा सके, अथवा प्रकृति से उतनी ही वस्तु ग्रहण करती है जिसे मस्तिष्क में ग्रहण करने की क्षमता है। अतः कालरिज के मतानुसार कल्पना की दो श्रेणियाँ निश्चित् की जा सकती हैं। एक आद्या को Primary imagination और दूसरी को प्रतिनिधि कल्पना Secondary imagination कह सकते हैं। आद्या-कल्पना, तो वह सजीव शक्ति है जो ऐन्द्रिय प्रतीति को ज्ञान गम्य बनाती है मानों परब्रह्म की सृजन क्रिया का सचेतन मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब हो। दूसरी, जिसको हम प्रतिनिधि-कहते हैं, वह भी आद्या-कल्पना (Primary imagination) की ही प्रति ध्वनि है। यह प्रकृत वस्तु को टुकड़े-टुकड़े करती है, उन्हें फैलाती है, छिन्न-भिन्न करके देखती है; ताकि अपनी इच्छा के अनुसार उनका सृजन कर सके। यह मनुष्य की इच्छा के साथ-साथ चलती है। अतः कहें, तो यह कह सकते हैं कि कल्पना, आत्मा और प्रकृति में—समान रूप से अवस्थित रहने वाली वस्तु है, जिसके कारण कवि प्रकृत वस्तु का आदर्शीकरण कर सकता है, और उसे मनन का रूप दे सकता है।

# रस्किन

साहित्य और कला की विवेचना के इतिहास में जान रस्किन का स्थान अद्वितीय और निराला है। वह प्रथम विचारक था जिसने सर्व प्रथम गठनकारी तथा चाक्षुप कलाओं के ऊपर सांगोपांग और गवेषणापूर्ण विचार का प्रयास किया और उनके महत्त्वनिर्धारण तथा उचित मूल्यांकन के लिए कुछ सिद्धान्तों की स्थापना की। चौदहवीं सदी में ट्यूडर वंश के शासकों के राज्यारोहण काल के पश्चात् साहित्य की रचना और उसकी मूल प्रेरणाओं तथा साहित्य स्रष्टा और उसके रसास्वादन करने वाले पाठक के मानस व्यापार के सम्बन्ध में अनेक मनीषियों और आलोचकों ने अनेक प्रकार से सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया है। इस प्रसंग को लेकर रचित ग्रन्थों को एकत्र किया जाय तो एक ऐसी राशि सामने आजायेगी जो देखने सुनने में कृशगात तो नहीं ही होगी। परन्तु मूर्त्ति-कला, गृह-निर्माण-कला तथा भास्कर्य कला अर्थात् वे कलायें जिन्हें Plastic Art कहते हैं और जिन्हें देख कर ही रसास्वादन किया जा सकता है उनके सम्बन्ध में बहुत ही कम लिखा गया है। इनको लेकर अत्यल्प मात्रा में जो कुछ लिखा भी गया है उसमें लेखक की वैयक्तिक अनुभूति, सूक्ष्म तथा अन्तर्दृष्टि और गहरी पैठ का नितान्त अभाव है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को कुछ बस कहना भर है और उसे वह ज्यों त्यों कह के अपनी जान छुड़ा रहा है, उसमें उसके प्राणों की ज्योति न हो, आन्तरिकता न हो। Reynolds ने ही अपनी पुस्तक Discourses में चित्रकला या मूर्त्तिकला पर कुछ कहने का प्रयत्न किया है पर वहाँ पर उसने चित्रांकन करने के नियम भर कर बतलाये हैं, यह बतलाने की कोशिश की है कि चित्र बनाने के लिए किस तरह की लकीरें खींचनीं चाहियें और किस तरह के रंग कहां भरने चाहियें। चित्रकार की कूंची में जीवन भर देने वाले, उसमें अपार अप्रतिहत और दिल पर सीधे चोट करने की शक्ति से समन्वित करने वाले जीवन-दर्शन के विवेचन का वहां सर्वथा अभाव है।

ऐसी परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई? क्या कारण है कि किसी जागृत

राष्ट्र का जीवन-श्रोत साहित्य और काव्य के ऊपर विचार करने वाले शास्त्रियों को तो उत्पन्न करे पर चित्रकला मूर्त्तिकला इत्यादि पर थोड़ा भी ठहर कर विचार करने वाले तत्वज्ञों के उत्पन्न करने में असफल रहे। कारण तो बहुत से हो सकते हैं और इतिहास के आलोक में अनेकों कारणों को ढूँढ़ा भी जा सकता है। पर सीधा कारण यही मालूम पड़ता है कि साहित्यालोचन का क्षेत्र कला-समालोचना के क्षेत्र से अधिक समृद्ध इसलिए है कि साहित्य पर शब्दों के द्वारा कुछ कहना जितना आसान है उतना मूर्त्तिकला और चित्रकला पर कहना नहीं। कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें एक माध्यम विशेष से अभिव्यक्ति होने का स्वाभाविक तत्परत्व सा रहता है। कुछ ऐसे विषय हैं जो कविता के द्वारा आसानी से अभिव्यक्त हो सकते हैं, दूसरे ऐसे हैं जिनकी सम्यग् अभिव्यक्ति गद्य के द्वारा ही हो सकती है। लेसिंग ने बता ही दिया है कि चित्र में स्थिति-पालकता की अभिव्यक्त को और काव्य में प्रगतिशीलता की अभिव्यक्ति की मौलिक योग्यता होती है। उसी तरह साहित्य और काव्य शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। अतः शब्दों की पकड़ में आ जाने की उसमें एक स्वाभाविक रुझान होती है, मानो वह पहले से ही तैयार रहता है, जहाँ आलोचक ने उपयुक्त शब्दों का जाल फैलाया उसने आत्मसमर्पण किया। पर कलायें तो चक्षु-ग्राह्य होती हैं, उन्हें आंखे ही ठीक से देखती हैं, समझती हैं, उनके लिये एक विशिष्ट भाषा होनी चाहिये जो नयनों की भाषा हो। भला आज तक नयनों की भाषा का किसी ने आविष्कार किया? तुलसी के सामने भी नयनो की भाषा का प्रश्न उठा उस समय जब कि राम की श्यामल मूर्ति उन्होंने देखी। अन्त में हार कर उन्हें कहना ही पड़ा—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' नयन बिनु बानी हैं, नयन की भाषा नहीं। अतः कला-कृति को देख कर हृदय पर जो प्रतिक्रिया होती है उसके लिये नयन की भाषा चाहिये। नहीं तो साधारण व्यवहार की भाषा को ही नयन की भाषा का रूप देना होगा। पर यह सहज साध्य तो है नहीं। यह कला किसी-ही-किसी सरस्वती के वरद् पुत्र को प्राप्त होती है। यही कारण है कि आज भी कला-समालोचना का क्षेत्र साहित्य-समालोचन के क्षेत्र की तरह समृद्ध नहीं और रस्किन के समय में तो और भी नहीं था। रस्किन ऐसा ही प्रतिभावान व्यक्ति था जो आँखों की भाषा लिख और बोल सकता था। अतः वह इन कलाओं के सम्बन्ध में विस्तार से कुछ कह सका है।

रस्किन ने कला-कृतियों पर दोनों पहलुओं से विचार किया है—द्रष्टा की दृष्टि से और स्रष्टा की दृष्टि से। यों इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई तात्विक

अन्तर नहीं। स्रष्टा भी द्रष्टा होता ही है। अथवा यों कहिये कि एक विशिष्ट द्रष्टा ही स्रष्टा होता है। पर हाँ, विचार विनिमय के लिये अथवा विश्लेषण के लिये दोनों को पृथक करके दिखाना सुविधाजनक होता है। रस्किन की एक प्रसिद्ध पुस्तक है Modern Painters (आधुनिक चित्रकार) जो सात जिल्दों में प्रकाशित हुई है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि रस्किन की यह मान्यता थी कि प्रकृत वस्तु को पूर्ण रूपेण देखने के लिये, उसके रहस्यों तथा गम्भीरता को परखने के लिये आँखों का होना ही पर्याप्त नहीं है। उनको व्यवस्थित रूप से शिक्षा होनी चाहिये, उन्हें नियमित रूप से देख सकने की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये दीक्षा लेनी चाहिये। साधारणतः होता क्या है कि हम बाह्य पदार्थ को देख भर लेते हैं। भगवान ने कृपा कर आँखें दे दी हैं। बाह्य पदार्थों से टकरा कर आई हुई प्रकाश की किरणें जब हमारे चक्षु पटल पर आघात करेंगी तो वहाँ पर किसी आकृति की सृष्टि तो होगी ही। पर वह हल्की सी चीज होगी, बिजली की तरह चमक कर क्षणिक ज्योति विकीर्ण कर अन्तर्धान हो जायगी, वह हमारे लिये कोई विशेष काम की न होगी, अन्तर की चेतना-पर एक मृदुल आघात कर समाप्त हो जायगी। रस्किन के शब्दों में "हमारी जागृत अवस्था में नेत्रों का अवलोकन व्यापार तो निरन्तर चलता रहता ही है; जहाँ तक हमारे शरीर-धर्म का सम्बन्ध है, हम सदा कुछ-न-कुछ देखते तो हैं ही, और यह मात्र देखना सदा एक ही तरह का होता है, (देखने की क्रिया सदा एक सी होती है)" पर यह देखना केवल शरीर धर्म मात्र है। यह देखना नहीं देखने के बराबर है। हमारी आँखें प्रायः नील वर्ण, रक्तवर्ण, अन्धकार और प्रकाश के अनिवार्य प्रकम्पन मात्र को ग्रहण करती हैं और कुछ नहीं। वे क्षण अति ही दुर्लभ होते हैं जब किसी विशिष्ट अवसर पर आँखों का व्यापार अधिक गहराई की ओर जाता है। आँखों का साधारण व्यापार शरीर धर्म मात्र है पर द्रष्टा का देखना आत्म-धर्म है। इस आत्म-धर्म में सहभागी होने के लिए हमारे नेत्रों को भी उसी तरह की शिक्षा और दीक्षा की आवश्यकता है जिस तरह से अपने शरीर को हम कठिन साधना और तपश्चर्या के द्वारा ही आध्यात्मिक ज्योति के धारण, पोषण और अभिव्यक्तिकरण के योग्य बना सकते हैं। जब आँखें इतनी शिक्षित हो जायेंगी कि बाह्य-आवरण को भेद कर भीतर झांक सकें तभी द्रष्टा की लेखनी से या कूँची से उस कलाकृति का निर्माण होगा जो हमारे चक्षु-पटल पर मृदुल आघात कर ही नहीं रह जायेगी पर हमारी अन्तर्चेतना को भी ज्योतिर्मय कर देगी।

संसार के लब्ध-प्रतिष्ठ कलाकारों में भी कुछ ही ऐसे हैं जो इस तरह की दिव्य-दृष्टि से सम्पन्न कहे जा सकें। जिन्हें हम कला के पारखी कह कर पुकारते हैं उनमें भी संसार की बाह्य-वस्तु या कला कृति के प्रति इस तरह की प्रतिक्रिया करने का तत्परत्व कम रहता है। प्रायः वे साधारण कोटि के व्यक्ति होते हैं, उनमे आँखें खोल कर ऊपर की ओर देखने की शक्ति नहीं होती और यही कारण है कि उनकी कृति में तृप्त करने की, शान्ति प्रदान करने की, स्फूर्त करने की, उर्जस्वित करने की क्षमता नहीं होती। ऐसे कलाकारों की दशा "अन्धेनैव नीयमाना: अन्धः" की तरह होती है। अन्धा जो स्वयं देख नहीं सकता दूसरों को राह कैसे दिखा सकता है? कलाकार ने या आलोचक ने स्वयं तो देखा नहीं, वह दूसरों को कैसे दिखलाने में समर्थ हो सकता है? संजय को पहले स्वयं दिव्य-दृष्टि को उपर्जित करना पड़ा था। तभी वे चक्षुहीन धृतराष्ट्र को दिव्य-दृष्टि दे सके थे जिसके कारण इतनी दूरी पर भी महाभारत के युद्ध को देखकर उसका चित्रोपम वर्णन कर धृतराष्ट्र को दिखा सकना उनके लिए सम्भव हो सका था। इस दिव्य दृष्टि को प्राप्त करना रस्किन के मत में जीवन में जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण, गौरवान्वित और महिमामय है उसका मूलश्रोत है इसी के तेज से निर्मित हो सका है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं तेजोंऽश संभवः॥

अर्थात् हे अर्जुन! संसार में जो कुछ भी विभूति सम्पन्न देखो, जो कुछ भी उन्नतिशील देखो, बस समझ लो कि वह मेरे ही तेज के अंश का प्रभाव है। रस्किन के शब्द यहाँ मनन करने योग्य हैं क्यों कि गीता में जो कुछ ईश्वरीय विभूति के लिए कहा गया है वही थोड़े परिवर्तन के साथ, रस्किन के सम्यक् दर्शन के लिये कहा जा सकता है। उसका कहना है—"The greatest thing a human soul ever does in this world is to see something and to tell which it saw in a plain way.........to see clearly is poetry, prophecy and religion all in one". अर्थात् मानव कर्त्तव्य का चरमोत्कर्ष इसमें है कि वह किसी वस्तु को सम्यकप्रकारेण देखे और जो कुछ वह देखे उसे सीधे-सीधे प्रकार से अभिव्यक्त करदे......'सम्यक् दर्शन में काव्य, शिक्षा और धर्म तीनों समवेत रूप से एकत्र रहते हैं।

अतः ज्ञानेन्द्रियों की स्वच्छता और निर्मलता के लिये और उनको यथोचित रूप से व्यापार करने में समर्थ करने के लिये निरन्तर उन्हें साधना द्वारा

सक्षम बनाते रहना हमारा कर्त्तव्य है। हम अपने रसनेन्द्रिय से किसी वस्तु का स्वाद लेते हैं। कबीर ने कहा है कि "खट्टा मीठा चरपरा जिह्वा सब रस लेय।" ठीक है जिह्वा बता सकती है कि अमुक वस्तु खट्टी है और अमुक वस्तु मीठी। यदि जिह्वा के सामने दो तरह की ऐसी वस्तु रखदें जो दोनों ही मीठी हों, उनकी मिठास में सूक्ष्म भेद हो तो वह अकस्मात् यह नहीं बतला सकती है कि कौन श्रेष्ठ है और कौन जरा निम्न कोटि की है, कौन अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय और आदरणीय है। पर यदि कुछ समय तक निरन्तर दोनों वस्तुएँ हमारे रसनेन्द्रिय के सामने निर्णय के लिये उपस्थित की जायँ और मनोयोग-पूर्वक इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर किया जाय तो स्वतः रसनेन्द्रिय में एक निर्णय जगेगा और वह एक के लिये अधिक आदर के भाव ग्रहण करने लगेगी। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से अथवा पोषण तत्व की दृष्टि से दोनों भले ही समकक्ष हों पर जिह्वा दोनों के प्रभेदकत्व को ग्रहण कर एक के पक्ष में निर्णय दे ही सकेगी। क्या कारण है कि वही रसना पहले कुछ निर्णय देने में असमर्थ थी पर अब वह विश्वास पूर्वक एक के लिये पक्षपात के भाव धारण करने लगी है? यही कारण है कि पहले वह अशिक्षित थी, उसमें विवेक का अभाव था अब वह शिक्षित होकर विवेकशील होगई है। यदि रसनेन्द्रिय के सम्बन्ध में शिक्षा इतना परिवर्तन ला सकती है तो चक्षुरिन्द्रिय के संबंध की बात ही क्या पूछनी? नहीं, रसनेन्द्रिय को हम अशिक्षित रहने देना एक क्षण स्वीकार ले सकते हैं, यह क्षम्य हो सकता है पर चक्षुरिन्द्रिय को अशिक्षित रखना एक तरह से अक्षम्य अपराध होगा; क्यों?

इसके उत्तर में रस्किन का कथन है कि हम अपने ज्ञानेन्द्रियों को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं उच्च और निम्न। निम्न श्रेणी में हम स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय को रख सकते हैं। कारण कि इनका अस्तित्व बहुत कुछ दूसरे एक दूसरे बड़े उद्देश्य अर्थात् जीवन-धारण के उपकारक रूप में होता है। ये ज्यादातर साधन के रूप में उपयोगी हैं साध्य के रूप में नहीं। पर श्रवण और दर्शन-व्यापार की स्थिति केवल दूसरे उद्देश्य के उपकारक के रूप में ही नहीं है। उनका अपना निजी महत्त्व है, वे स्वयं साध्य हैं और उन्हें उनके निजी रूप में ही ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा। "वे अस्तित्व मात्र के साधन भर ही नहीं। यह सम्भव है कि हमारे लिये क्या उपयोगी है और क्या भयानक है इस भेद को ये बता सकें और बहुधा बताती भी हैं पर उस दृश्य में आनन्द की छाया भी न ग्रहण कर सकें। यह सम्भव है कि मनुष्य फल और अन्न के दाने तथा पुष्प के अन्तर को समझ

जाय पर अन्न में जो उच्चकोटि के आनन्दोत्कर्ष की शक्ति होती है वह हमसे ओझल ही रहे, सम्भव है हमारी श्रवणेन्द्रिय भाव और विचार ग्राहक ध्वनियों को चट ताड़ जाय अथवा भाव की सूचना देने वाली प्रकृति के कर्कश वज्र निर्घोष को पहचान जाय पर वाणी में जो संगीत होता है अथवा बिजली की कड़क में जो एक गौरव होता है उसका ज्ञान भी उसे नहीं हो। चूंकि इनके द्वारा प्राप्त आनन्द का कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं अतः किसी साध्य की प्राप्ति तक ही इनके अस्तित्व की समाप्ति नहीं। ये तो स्वयं ही साध्य है। अत: (जीवन की तरह ही) ये सदा हमारे साथ वर्त्तमान रह सकते हैं। इनकी ज्योति कभी भी मलिन होने वाली नहीं है परन्तु बार बार की आवृति से इनके प्रताप में अभिवृद्धि ही होती है।" इन पंक्तियों से यह सिद्ध होता है कि उच्च श्रेणी में रखा जाने वाली श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के दो व्यापार हो सकते हैं। प्रथमत: तो वह जो हमारे अस्तित्व-धारण में सहायक होता है और दूसरा जो आनन्द प्रदान करता है। प्रथम व्यापार का Biological महत्त्व है परन्तु, दूसरे व्यापार का Biological महत्त्व नहीं। क्योंकि आनन्द के अभाव में भी तो हमारा जीवन-व्यापार चलता ही रहता है। अतः इनमें आनन्द सृजन करने की जो शक्ति है वह एक तरह स्वतः पूर्ण है, स्वयं एक साध्य है और चाहें तो इसे दूसरी बातों से निरपेक्ष रख कर साध्य के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। अब आप-तर्क के इसी सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़ें। हम सब जानते हैं कि प्रत्येक अधिकार के साथ-साथ तदनुरूप कर्त्तव्य भी साथ साथ लगा चलता है। यदि आप किसी पद के अथवा शक्ति के अधिकारी हैं और आप उसके आनुषंगिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं करते तो नैतिक दृष्टि से आप पाप के भाजन बनते हैं। (भगवान ने आपको चक्षु-रिन्द्रियां दी हैं, आप इनके अधिकारी हैं। इनमें दुहरी शक्ति है। एक तो जीवन धारण में सहायता देने की और दूसरी आनन्द-सृजन की। यदि आप इस ओर संलग्न नहीं होते तो आप चूकते हैं और एक बड़े ही उत्तम अवसर से हाथ धो रहे हैं। यहाँ पर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में आपका कर्त्तव्य है कि आप इन्हें इस उत्कर्षावस्था पर पहुँचायें कि वे अपने समक्ष आने वाले पदार्थों के विषय में यथार्थ से यथार्थ निर्णय दे सकें। साथ ही दूसरी इन्द्रियों के व्यापार में औचित्य की रक्षा करते हुए हमें अधिक से अधिक आनन्द प्रदान कर सकें।

रस्किन ने अपने राष्ट्र की चिन्तन-धारा को एक नई दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया था। अब तक कलायें लोगों से निरादृत सी थीं।

रस्किन चाहता था कि लोगों की रुचि इनके अध्ययन अध्यापन की ओर बढ़े। जिस तरह किसी भी मनुष्य के स्वस्थ विकास के लिये आवश्यक है कि उसकी निरुद्ध प्रवृत्तियों को समय-समय पर उचित निष्कासन का मार्ग मिला करे उसी तरह राष्ट्र-शरीर की अवरुद्ध चेष्टा को भी स्वतन्त्रता पूर्वक प्रवाहित होने का अवसर देते रहना राष्ट्रीय उन्नति के लिये आवश्यक है। और यह भी सही है कि शताब्दियों से अवरुद्ध पड़ी हुई, रुकी हुई जीवन्तधारा जब फूटती है तो मानो नदी की बाढ़ की तरह सबको ठेलती हुई चलती है। अंग्रेजी राष्ट्र में सदियों से कलाओं की पुकार छिपी पड़ी थी वही मानो रस्किन के कण्ठ-स्वर से फूट पड़ी थी, अतः उसमें यौवन का उद्दाम वेग था और वह इस मांग को इतने जोश खरोश के साथ पेश करता था कि दूसरी माँगों की पूछ कम हो गई थी। यही कारण है कि रस्किन के पाठकों को कभी-कभी भ्रम हो जाता है कि उसने चक्षुग्राह्य कलाओं को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है तथा चक्षु और चाक्षुष व्यापार की अत्यधिक प्रशस्ति गाई है। यह सत्य भले ही हो पर अस्वाभाविक नहीं। चक्षु-ग्राह्य कलाओं को मानव चिन्तन परम्परा में न्यायोचित और जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त हो इसके लिये रस्किन संघर्ष कर रहा था। अतः उसके कण्ठ-स्वर में अधिक प्रचण्डता पाई जाय अथवा वह इसके साथ पक्षपात सा करता मालूम पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में देखा जाय और शान्तचित से मानव व्यापार का निरीक्षण किया जाय तो पता भी चलेगा और सचमुच हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि मनुष्य सुनता और देखता कम है और बोलता है अधिक। और मानव-स्वभाव की यह त्रुटि प्रत्येक विचारवान को खटकी है। सुकरात ने एक स्थान पर कहा है—"Nature has given us two ears and two eyes but one tongue, to the end that we should hear and see more than we speak". अर्थात् प्रकृति ने हमें दो कान दिये, दो आंखें दी ताकि हम बोलने से अधिक सुनने और देखने का काम करें। रस्किन और सुकरात की वाणी में एक ही स्वर गूंज रहा है।

विचारकों का एक ऐसा दल है जो मानव-व्यापार-शृंखला को टुकड़े टुकड़े कर के देखता है। उनके मतानुसार मनुष्य के अन्तर्चेतन जगत में पृथक-पृथक केन्द्र हैं जहां से उसकी भिन्न-भिन्न क्रियायें अपना रूप ग्रहण करती हैं, वे ही उसके भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा देने वाले हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य की चेतना के नैतिक केन्द्र-स्थल पर आघात पड़ता है तो उसकी ही प्रतिक्रिया के रूप में नीति-शास्त्र और आचार-शास्त्र की उत्पत्ति होती है।

जब सौंदर्यानुभूति-केन्द्र जागृत होते हैं तो कलाओं का तथा काव्य-शास्त्र इत्यादि का जन्म होता है। इसी तरह मनुष्य के अनेक अन्य विविध क्रिया कलाओं के उद्गम-श्रोत के सम्बन्ध में भी समझिये। पर रस्किन मानव-चेतना को इस तरह चीर फाड़ कर तथा उसे छोटे छोटे बन्द कठघरों में विभाजित कर देखने के पक्ष में नहीं है। रस्किन आत्मा की अखण्डता और एकता में विश्वास करता है और उसकी सारी विचारधारा इसी सत्य को मानकर अग्रसर होती है। मानव चेतना को इस विशदता और व्यापकत्व की अनुभूति रस्किन के साहित्य में पद पद पर मिलती है। उसका विश्वास है कि मनुष्य के क्रिया-कलाप किसी विशिष्ट शक्ति-केन्द्र से उद्भूत नहीं होते बल्कि वे मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व को लेकर ही आगे बढ़ते हैं। अतः यह कहना एक अनर्गल प्रलाप है कि कला का जन्म मस्तिष्क के उस विशिष्ट अंश से होता है जिसे aesthetic faculty (सौंदर्यानुभूति शक्ति केन्द्र) कहते हैं तथा नैतिकता को जन्म देने वाली कोई विशिष्ट शक्ति है जिसे moral faculty (नीति-शक्ति-केन्द्र) कहते हैं। नहीं, मनुष्य की क्रिया उसके पूर्ण व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है, मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया में, इस उस शक्ति मात्र से ही नहीं प्रत्युत पूर्ण जीवनी-शक्ति के साथ जीवित रहता है। अतः देखना भी देखने में केवल चक्षु व्यापार सा मालूम पड़ता है। पर जिसे हमने 'सम्यक् दर्शन' कहा है कहां है? वह तो केवल बाह्य-पदार्थ से टकरा कर आने वाली प्रकाश-किरणों का प्रकम्पन मात्र है: वह इतना करके ही समाप्त हो जाता है। जो दर्शन काव्य और कला का मूलोत्पादक है वह कुछ और है जिसमें मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व का सहयोग रहता है। कविवर बिहारी ने कहा है

अनियारे दीरघ नयन, किती न युवति समान।
ये चितवन कछु और हैं, जिहि बस होत सुजान ॥

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों की विचारधारा के पर्यावलोकन से भी रस्किन की बातों का समर्थन मिलता है। हमारे यहां काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बतलाये गये हैं (हम काव्य को कला का स्थानापन्न कुछ क्षण के लिये मान लेंगे) समाधि और अभ्यास। समाधि का अर्थ है मन की एकाग्रता और अभ्यास का अर्थ है बार बार किसी विषय का अनुशीलन। समाधि आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य-प्रयत्न। इन दोनों का जब संयोग होता है अर्थात् यों कहें कि मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व जब आन्दोलित (exercised) होता है तो उसमें काव्य की शक्ति उत्पन्न होती है। मम्मट का यह प्रसिद्ध श्लोक किसे याद न होगा—

शक्तिर्निपुणता लोक काव्य शास्त्राधवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।

अर्थात् शक्ति, लोक व्यवहार और शास्त्र आदि का अवलोकन, काव्य से पाई शिक्षा का अभ्यास ये तीनों काव्य की उत्पत्ति के कारण होते हैं । इस कारिका के पढ़ने पर यह भ्रम होने की संभावना थी कि इन तीनों कारणों में से किसी एक की अवस्थिति में तथा अन्य दो के अभाव में भी काव्य-रचना हो सकती है । इस बात को आगे चलकर मम्मट ने यह कहकर स्पष्ट किया है "त्रयः समुदिताः नतु व्यस्तास्तस्य काव्यस्पोद्भवे निर्माणेच समुल्लासे च हेतु न च हेतवः" अर्थात् ये तीनों सम्मिलित रूप से ही न कि अलग-अलग रहने पर—काव्योत्कर्ष के कारण होते हैं । रस्किन ने आँखों को शिक्षित करने की बात कही है वह भी प्रकारान्तर से यही है ।

प्रत्येक विचारक को कला विषयक चार पांच मूल प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा है। कला क्या है, कला-सृजन की मूल प्रेरक प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है, कला मनुष्य की किस प्रवृत्ति के प्रति निवेदित होती है । कला का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है । कलाकृति के सच्चे मूल्यांकन का मापदण्ड क्या है, वे कौनसे नियम हैं जिनकी कसौटी पर कस कर हम कला की सार्थकता और सफलता की जाँच कर सकते हैं । साथ ही यह भी हम किसी तरह भूल नहीं सकते कि किसी भी चिन्तनशील के एतद्विषयक प्रश्नों के उत्तर में अपने समकालीन विचारधारा की छाप अवश्य ही रहेगी; मनुष्य का चिंतन अपनी परिपार्श्विक स्थिति से टूटकर खड़ा नहीं हो सकता। अतः आइये हम इस बात पर विचार करें कि अनु-रस्किन (Pre-Ruskin) कला-विषयक कलाविदों का चिंतन किस मार्ग से प्रवाहित हो रहा था ।

रस्किन के समय कला-तत्व-विशारदों के दो सम्प्रदाय थे, realist वस्तुवादी तथा acadamacians अरस्तू ने जब से कला को अनुकृति (imitation कहकर पुकारा तभी से कला विशारदों का एक दल चलता आ रहा था जिनके मत में प्रकृत वस्तु का यथातथ्य चित्रण ही कला का चरमोत्कर्ष है, जो कलावस्तु देखने वाले के हृदय में प्रकृत-वस्तु का भ्रम उत्पन्न करने में सफल हो जाय वह सर्वश्रेष्ठ कला समझी जाती है । प्रसिद्ध चित्रकार Leonardo da Vinci तथा प्रसिद्ध कवि Dante तक भी इस मत के समर्थक थे । Dante अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Divine comedy में Purgatory में जड़ित कुछ चित्रों का वर्णन किया । वह उन चित्रों पर इतना मुग्ध है कि उनके स्तवन में अपने अध्याय का आधा से अधिक अंश लगाया है ।

परन्तु क्या आप यह भी जानते हैं कि उन चित्रों में कौन सी ऐसी विशिष्टता थी जो उसके मानस व्यापार पर अधिकृत होकर उसकी लेखनी को इतनी देर तक परिचालित करती रही। Dante ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वह विशिष्टता और कुछ नहीं थी केवल यह कि प्रकृत वस्तु की यथातथ्य अनुकृति उसमें पाई जाती थी। इस अनुकृति के सिद्धान्त को जब उच्च चित्रकारों ने चरम सीमा को पहुँचा दिया तो इसके विरुद्ध में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई तो उसने Academicians सम्प्रदाय का रूप धारण किया। इन लोगों ने इस बात की घोषणा की कि कला का प्राण निर्जीव अनुकृति नहीं अपितु सौंदर्य है। सौंदर्य को ही कला का प्राण मानकर इस academician सम्प्रदाय के मनीषियों ने कला-संबंधी चिन्तन का उचित मार्ग-निर्देश अवश्य किया और अनुकृति के बोझ से दबी कला को जरा सांस लेने का अवसर अवश्य मिला पर फिर भी ये लोग कला को बन्द कठघरे से निकाल कर प्रकृति के रम्य और सौंदर्यमंडित दिव्योद्यान के स्वच्छ वायुमण्डल में नहीं रख सके। हां, इनके पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन्होंने उस कठघरे में जहां पड़ी-पड़ी कला का श्वास अवरुद्ध हो रहा था, उसके दम घुट रहे थे उसमें खिड़कियां खोल दीं जिनसे होकर वायु की एक लहर अवश्य प्रवेश कर सके। और यह इतना सा काम भी तत्कालीन वातावरण के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण था।

Academician संप्रदाय का जन्म अनुकृति-संप्रदाय की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। प्रतिक्रिया जितनी तीव्र होती है, जितनी ही उग्र होती है, उतनी ही उसमें अतिवादिता का अंश रहता है। कल्पना कीजिये कि एक ऐसी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई जिसका अस्तित्व हमारे जीवन में ४०, ५० वर्षों तक ही रहा। ऐसी अवस्था में इस विचारधारा के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया होगी उसमें अत्यधिक उग्रता और प्रतिहिंसा के भाव नहीं रहेंगे। पर यदि प्रतिक्रिया एक ऐसे विचार के विरोध में हो रही है जिसने हजारों वर्षों तक हमारे जीवन को आक्रान्त और अवरुद्ध रखा था तो उसमें पैगम्बरी जोश होगा और उसमें क्रान्ति की उग्रता होगी और वह प्राचीन नियमों को दूर करने जाकर स्वयं ऐसे नियमों का निर्माण कर लेगी जो स्वयं भविष्य की उन्नति के मार्गावरोधक प्रमाणित होंगे। ठीक यही बात Academician सम्प्रदाय के सम्बंध में भी हुई। ये लोग चले थे एक नियम को तोड़ने के लिये कि प्रकृत-वस्तु की सस्ती अनुकृति मत करो। प्रकृति में सौंदर्य ढूँढ़ो। पर उन्होंने यह कहा कि तुम अपनी आँखों से जिस सौन्दर्य का दर्शन करते हो वह सच्चा सौंदर्य नहीं। हमारी बनाई राह से, जो देख सकते हो, अर्थात्

हमारे बनाये सिद्धान्तों की ऐनक लगा कर जिस सौंदर्य का दर्शन कर सकते हो वही सच्चा सौन्दर्य है और उसकी ही अभिव्यक्ति कला का मूल जीवन है।

Academician सम्प्रदाय के समर्थकों ने जिन कला-सृजन-सूत्रों का आविष्कार किया था और जिनकी राह से वे कला के मन्दिर में प्रवेश करने का, सौंदर्योपासना करने का आदेश देते थे उन्हें सामूहिक रूप से उदात्तशैली ( Grand style ) कहते हैं। उनकी मान्यता थी कि इस उदात्तशैली के द्वारा बतलाये सिद्धान्तों के अनुसार चलकर कलाकार वस्तु-स्थित सौन्दर्य का चित्रण अपनी कृतियों में कर सकेगा। इस उदात्त शैली के चार सूत्र थे, महदुद्भावन ( Grand invention ), महद् अभिव्यक्ति, नातिविचित्र चित्रकारी ( Harmonious colouring ) और साधारण, अलंकरण। प्रत्येक वस्तु से सूक्ष्म भाव-तरंगें निकला करती हैं जिनका प्रभाव सब व्यक्तियों पर एक-सा पड़ा करता है। कल्पना कीजिये कि अपने पूर्ण यौवन से उद्दीप्त किसी गुलाब के पुष्प को अनेक मनुष्यों ने देखा। वह पुष्प विविध मनुष्यों को विविध रूप में देख पड़ेगा। पर साथ ही गुलाब के पुष्प की एक ऐसी विशिष्ट परमार्थिक सत्ता भी है जो सबको एक ही तरह दीख पड़ेगी जिसका प्रभाव सर्व साधारण पर एक सा ही पड़ेगा। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि गुलाब जहां विशिष्ट व्यक्ति है वहां उसका एक सार्वजनीन रूप भी है। कलाकार इस विशिष्टता में साधारणत्व या सार्वजनीनत्व को खोज लेता है और उसे प्रगट करता है। इस वैशिष्ट्य में साधारणत्व को खोज लेना और उसे प्रगट करना Grand invention कहलाता है। चित्रकार निर्जीव सत्य का अथवा अनुकरण की वेदी पर सौंदर्य या भाव का बलिदान कर उच्च कलाकृति का निर्माण नहीं कर सकता। नेपोलियन अथवा सिकन्दर महान् एक दुबले-पतले स्वल्पकाय व्यक्ति थे, उनको देखने से एक दुर्बलकाय व्यक्तित्व का आभास मिला करता था। पर क्या कोई चित्रकार इस तरह के सिकन्दर अथवा नेपोलियन का चित्रांकण कर कलाकृति उत्पन्न कर सकता है? १६ वीं शताब्दी में रक्त और लौह नीति ( Blood and Iron policy ) के द्वारा जर्मनी को राजनीतिक-सूत्र में आबद्ध करने वाले निर्मम विस्मार्क को कौन नहीं जानता? वह कितना ममता-शून्य व्यक्ति था; अपने उद्देश्य के मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाली पवित्रतम और कोमलतम वस्तु को भी निर्दयतापूर्वक कुचल सकता था। पर उसके फोटो को देखिये तो मालूम होता है कि कहाँ की करुणा उसके हृदय में लहरा रही है। तो क्या विस्मार्क को एक दयार्द्र-

चित्त व्यक्ति के रूप में चित्रित करना कलाकृति होगा ? नहीं, सर्वसाधारण के हृदय में उनके जिस रूप की प्रतिष्ठा हो गई है उसका ही चित्रण Grand style का उपजीव्य है।

इस महदुद्भावन सूत्र का तत्कालीन Academician कला-दर्शन से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है अतः इस पर और भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार करना होगा। इन कला-तत्वज्ञों के बीच में सृजनात्मक क्रिया की सफल चरितार्थता के लिये सामान्यीकरण का सिद्धांत ( Theory of generalisation ) प्रचलित था जिसका मूल प्लेटो के प्रत्ययवाद ( Theory of idea ) में था। इस सम्प्रदाय का नाम ही इसके सिद्धांतों पर प्लेटो के प्रभाव का अभिव्यंजक है। प्लेटो ने एथेन्स नगरी की व्यायाम भूमि पर एक शिक्षा केन्द्र की स्थापना की थी जहाँ पर वह अपने दर्शन-शास्त्र की शिक्षा दिया करता था। उस शिक्षा केन्द्र का नाम Academy था। इसी Academy के नाम पर इस नूतन सम्प्रदाय को Academician कहा जाता है।

किसी भी विद्वान से यह छिपा नहीं कि परिभाषा देना कितना कठिन होता है। फिर भी रस्किन ने श्रेष्ठ कला की व्यापक परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। अधिकाधिक आनन्द प्रदायकता कला की श्रेष्ठता का लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसी कला भी हो सकती है जिसका ध्येय आनन्द विधान न होकर शिक्षा-विधान हो। उपदेश-प्रदान में भी कला की श्रेष्ठता नहीं क्योंकि कोई कला ऐसी हो सकती है जो शिक्षा देने का ध्येय न रख कर आनन्द-विधान की ओर अग्रसर हो। अनुकृति भी कला की श्रेष्ठता के लिये प्रमाण नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसी कलायें भी हैं जिनका ध्येय अनुकरण न हो कर सृजन है। पर वह कला सर्व श्रेष्ठ कही जा सकती है जो दर्शक के मानस में, किसी साधन से, अधिक से अधिक उदात्त भावों को अधिक से अधिक संख्या में प्रेषणीय बना सके। उदात्त भावों का लक्षण यही है कि वे हमारे मानस की उच्चतर शक्तियों के द्वारा गृहीत होते हैं, वे उन शक्तियों को व्यायाम देकर उन्हें और भी सामर्थ्यवान बनाते हैं। अतः श्रेष्ठ कलाकार वही है जो अपनी कला कृतियों में उदात्त भावनाओं को अधिकाधिक संख्या में समाविष्ट कर सके।

चित्रकला के सच्चे रूप का हमें तब पता चल सकता है जब हम उसे विचारों और भावों के वाहक एक उदात्त और अभिव्यञ्जक भाषा के रूप में देखें। कला की सिद्धि की सार्थकता इसी में है कि वह कलाकार के भावों को

दूसरे पाठकों या दर्शकों तक प्रेषणीय बनाने का साधन है; भाषा है। जिस तरह व्याकरण के नियमों को कंठाग्र कर शुद्ध भाषा के लिख सकने की योग्यता प्राप्त करने वाला व्यक्ति साहित्यिक के पद का अधिकारी नहीं हो जाता उसी तरह चित्रकारी के कुछ नियम-सूत्रों के सहारे प्रकृत वस्तु का ठीक-ठीक नक्शा उतार सकने भर वाला व्यक्ति कलाकार नहीं हो जाता। कला वह भाषा है जो भावों की व्यंजक है। वह भाषा चाहे शब्दों का रूप धारण करे, टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों अथवा भिन्न-भिन्न अंग संचालक मुद्राओं का, पर प्रत्येक अवस्था में कुछ भावों की ही वाहिका उसे होना पड़ता है तभी उसमें कला के प्राणों का स्पन्दन दिखलाई पड़ सकता है। ये अभिव्यंजित भाव जितने ही उदात्त होंगे कला में उतनी ही उदात्तता या श्रेष्ठता आयेगी। एक शायर ने कहा है—

"सुनता हूं बड़े गौर से अफ़सानये हस्ती
कुछ अस्ल है कुछ ख्वाब है कुछ तर्जेअदा है"

अर्थात् यदि इस विराट प्रकृति की ओर आँख उठा कर ध्यान पूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि यथार्थ, कल्पना और उसके प्रकाशन के ढंग तीनों के सम्मिश्रण से उसके रूप का निर्माण हुआ है। साहित्य-शास्त्रियों का एक ऐसा सम्प्रदाय हो गया है जिसने अस्ल और ख्वाब से अधिक तर्ज़ अदा को ही महत्व दिया है। उनका कहना है कि काव्यत्व अथवा कलात्मकत्व इसमें नहीं कि क्या कहा जा रहा है पर इसमें है कि किस ढंग से कहा जा रहा है; 'वक्रोक्ति काव्यस्य जीवितम्' कह कर कुन्तक ने इसी तर्ज़ अदा की प्रशस्ति गाई है। पोप, ड्राइडेन और जानसन इसी मत के पोषक थे। पर रस्किन का कहना है कि कला के बाह्य अलंकरण विधान पर मुग्ध हो हम थोड़ी देर के लिये उसकी प्रशंसा भले ही कर लें पर कला के वास्तविक महत्व की परख भाव रूपी निकष पर ही हो सकती है। हमारे हृदय को किसी कलाकृति से तब तक गंभीर संतोष की प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक उसके प्रतिपाद्य भाव उच्च तथा गंभीर न हों, जब तक काव्य या कला के द्वारा अपनी-अपनी भाषा के माध्यम से अंकित भाव-मूर्ति दिव्य न हो, उसमें किसी भव्यता के दर्शन न होते हों जिसके दर्शन मात्र से हमारे मानस में इस जगत के विकारों से हट कर एक दिव्य लोक की ओर प्रयाण करने की अनुभूति न होती हो।

माना कि साहित्य में तथा अन्य कलाओं में भाषा और भाव कभी-कभी इस तरह मिल जाते हैं कि इन्हें पृथक करना कठिन हो जाता है। यह नहीं कहा

जा सकता कि कहाँ भाषा की सीमा समाप्त होती है और कहाँ भावों का साम्राज्य प्रारम्भ हो जाता है। जिस भाषा में भावों की अभिव्यक्ति हुई है उसे हटा कर उन्हें दूसरे परिधान में सुसज्जित करने का प्रयास करते ही हरी घास की टहनी पर अपनी पूरी दीप्ति से मुस्कराने वाले तुहिन बिन्दु की तरह वे गिर कर नष्ट हो जाते हैं। यह ठीक है कि साहित्य में कभी-कभी यह अवस्था उपस्थित हो जाती है। पर यह भी ठीक है जो भाव उच्च होते हैं, गम्भीर होते हैं, उन्हें शब्दों के आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। शब्दों का आश्रय उनमें न्यूनातिन्यून होता है। वे जिस अनुपात में शब्दों से स्वतन्त्र हैं उसी अनुपात में उनके महत्व का मूल्यांकन होता है। यदि उच्च और दिव्य भावों की अभिव्यक्ति के लिये सशक्त और अलंकृत एक विशिष्ट भाषा की सहायता मिल जाय तो सोने में सुगन्ध का समावेश हो गया। पर सुवर्ण के मूल्यांकन में हम सुगन्धि का उतना महत्त्व नहीं दे सकते। सुवर्ण को निकष-रेखा की परीक्षा देनी होगी, सुगन्धि न भी हो तो हम कोई घाटे में नहीं रहते। सीधी सादी लकीरें तथा सीधी-सादी भाषा जो अपनी निरीहता तथा अकिंचनता के द्वारा ही भावों के सात्विक सौन्दर्य को खोल कर रख देती हैं हमारे हृदय को जितनी प्यारी है उतने भड़कीले वस्त्राभरण अथवा रत्नाभरण नहीं हैं जो किसी मूल भाव के अलंकृत करने की प्रक्रिया में उसे छिपा भी देते हैं। वास्तव में पूछिये तो हमारे हृदय को इस अलंकार-विधान-प्रक्रिया के अभाव से प्रसन्नता ही होती है क्योंकि हमें स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि भावों की अभिव्यक्ति में उनका दान कितना थोड़ा है तथा अपनी उपस्थिति से वे भावों के सौंदर्य को कितना नष्ट कर देते हैं। दूसरे शब्दों में वे निर्माण कम करते हैं। नाश ज्यादा करते हैं अतः प्रमाणित होता है कि किसी कलात्मक कृति में भावों की ही स्थिति प्रधान रूप में अपेक्षित हैं, वे ही कला के प्राण हैं, उनमें ही कला के प्राणाधायकत्व की क्षमता है। हाँ, बाह्य अलंकरण भावों की अभिव्यक्ति के सहायक रूप में, स्वरूपाधायक के रूप में स्वीकृत हो सकते हैं। रस्किन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि It is not by the mode of representing and saying, but by what is represented and said that the respective greatness either of the painter or the writer is to be finally determined अर्थात् चित्रकार अथवा साहित्य स्रष्टा की उच्चता की कसौटी कला अथवा उक्ति का ढंग नहीं परन्तु अभिलेख्य अथवा अभिधेय भाव हो।

स्वर्गीय प्रो० बड़थ्वाल महोदय ने अपनी पुस्तक 'निर्गुण स्कूल ऑफ

हिन्दी पोएट्री' में कबीर की कविता का मूल्यांकन करते समय इसी तरह का एक रोचक प्रश्न उठाया है। उन्होंने कहा है कि प्रायः देखा जाता है कि काव्य में 'शब्द-परिवृत्ति-सहत्व' नहीं होता। जिन शब्दावलियों के द्वारा काव्य के मूलगत भाव अभिव्यक्त हुए हैं उनमें परिवर्त्तन होते ही वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यदि इन्हें एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद किया जाय तब तो मानों उनकी हत्या ही हो जाती है और उनका स्वरूप नष्ट ही हो जाता है। तिस पर भी कुछ ऐसे दिव्य भाव होते हैं जिन्हें अपनी स्थिति के लिये किसी विशिष्ट प्रकार की उक्ति का मुँह नहीं जोहना पड़ता; वे मानों अपनी मौलिक शक्ति के बल पर ही बिना किसी सहाय्य के, अपने पैरों पर खड़े हो अपनी स्थिति की घोषणा करते रहते हैं और सारी बाधाओं को ललकारते रहते हैं। वे मानों कहते हैं कि चाहे हमें किसी भी परिस्थिति में रखो, चाहे हमें किसी तरह दरिद्र वेष भूषा में रखो पर मेरी ज्योति की किरणें कहीं भी मलिन नहीं हो सकती। कबीर की कविता में इसी तरह के दिव्य भाव मिलते हैं। कबीर में कला की कारीगरी नहीं, शब्दों का अलंकृत विधान नहीं पर उनमें भावों की उदात्तता की कमी नहीं। इसी एक गुण के कारण वह उच्च कोटि की कविता में स्थान पाती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर की कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। आलोचकों का कहना है कि अनुवाद में भावों की दिव्यता में किसी तरह की मलिनता आने नहीं पाई है बल्कि वे और निखर कर सामने आते हैं। संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों में भी इस प्रश्न को लेकर पर्याप्त विचार विमर्श हुआ है। वामन आदि विचारकों के मत में काव्य का परिपाक तभी समझना चाहिये जब कविता के शब्दों के चुनाव में इतनी चतुरता से काम लिया जाय कि वे अपने भावों के अनुरूप ठीक-ठीक इस तरह बैठ जाय कि उनमें एक अक्षर के अदल-बदल से भी सारा आनन्द नष्ट हो जाय। पर अवन्ति सुन्दरी का मत यह है कि यह तो कविता की अथवा कवि की न्यूनता है कि भाव एक ही प्रकार के शब्दों के द्वारा निबद्ध हो सकें। यदि भावों में मौलिक उच्चता है और कवि में प्रतिभा है तो वह उसी भाव को नाना प्रकार के शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकता है।

रस्किन ने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये एक चित्र का उदारहण दिया है "Old shepherd's chief mourner" जो बातें इस चित्र के लिए लागू हैं वे ही किसी कविता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं क्योंकि चित्र हो या कविता दोनों हैं तो भाषा ही है। इस चित्र में इन बातों पर ध्यान दीजिये। कुत्ते के गदराये, भरे और सुन्दर केश-कलाप

को दिखलाने में कितने कौशल से काम लिया गया है, हरी-भरी डाल की पत्तियों को स्पर्श करते से मालूम पड़ते हैं, शव को ढोने वाली अर्थी को तथा शव को आवृत करने वाली चादर की सिकुड़न में प्रदर्शन के अपूर्व कारीगरी का परिचय दिया गया है इसमें कोई सन्देह नहीं। ये मानों भाषा के शब्द हैं जिनकी भाववाहकता अथवा भावाभिव्यञ्जकता अपने चरमोत्कर्ष पर है। परन्तु इस चित्र को श्रेष्ठ कलात्मक कृति की श्रेणी मे प्रतिष्ठित करने वाली वस्तु यह कारीगरी तथा कौशल का प्रदर्शन नहीं है। इन रेखाओं द्वारा कुत्ते की अपूर्व स्वामिभक्ति, उसकी छटपटाहट, घबराहट तथा मूक वेदना, जीवन की क्षण भंगुरता, अहंकार गर्वित मानव की सारी शक्ति की व्यर्थता, गड़रिये के जीवन की निरीहता एवं सूनापन तथा अन्य समानधर्मी भावों की जो अभिव्यञ्जना अपनी पूरी शक्ति के साथ दर्शक के मन पर छा जाता है। ये ही भाव हैं जो इस चित्र को अन्य चित्रों से अलग कर देते हैं और बतलाते हैं कि इस चित्र का निर्माता केवल शुष्क अनुकरण करने वाला नहीं है परन्तु उसके पास सहानुभूतिपूर्ण भाव-प्रवण हृदय भी है।

अतः प्रत्येक काव्यालोचक या कला के महत्त्व की परख करने वाले व्यक्ति का परम और सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि आलोच्य विषय के भावपक्ष और कला-पक्ष दोनों की सूक्ष्मता से छान बीन करे, पृथक-पृथक देखे। इस विश्लेषण से यदि यह मालूम हुआ कि आलोच्य वस्तु में उदात्त और रुचिर भावों की अवस्थिति प्रचुर मात्रा में वर्त्तमान है तो वह लाख त्रुटियों तथा अभिव्यक्ति की निशक्तता के रहते भी उस कृति से कहीं महत्त्वपूर्ण है जिसमें भाव-पक्ष के अभाव में कला-पक्ष को अधिक पुष्ट करने के लिये अलंकृत भाषा का प्रयोग किया गया हो। कला की प्रयत्न साध्य बारीकी भाव की न्यूनातिन्यून कमी को पूरी नहीं कर सकती। भाव ही भाव के अभाव को पूरा कर सकता है। कला का कौशल तथा भाषा का अलङ्करण तभी तक सराहनीय होते हैं जहाँ तक वे भावों के सौन्दर्य वृद्धि मे सहायक हैं। आप को स्वतन्त्रता है आप अपने हृदयस्थ भावों को अधिक से अधिक सुन्दर साज सज्जा में उपस्थित करें, उसका जितना परिष्कार और परिमार्जन हो सके करें पर जहां इस प्रक्रिया में भाव-पक्ष पर जरा सी हानि पहुँची, उसकी जरा भी क्षति हुई बस समझ लीजिये कि वह कला-शरीर पर बैठा विद्रूप करता हुआ एक अप्रयोजनीय अंश बन कर रह जायेगा। भावों की महत्ता इसी में है कि वे स्वतन्त्र रहें। प्रत्येक जीवित पदार्थ की तरह स्वतन्त्रता उनका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उनको प्राणों से भी अधिक प्यारी है। अलङ्कार अपनी अलग स्थिति बनाये भावों के सहायक रूप

से स्वीकृत किये जा सकते हैं पर जहां इन्होंने भाव की भूमि पर अधिकार करने की चेष्टा की वहाँ वे भाव की मृत देह पर पैर रख कर ही जा सकते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में कला के स्वरूप का विवेचन किया गया और हम इस निश्चय पर पहुंचे कि कला की श्रेष्ठता भाव-बोध की मात्रा और उनकी भव्यता पर निर्भर करती है। अब प्रश्न यह होता है कि कला के द्वारा कितने प्रकार के भावों का बोध हो सकता है। हम किसी भी कलाकृति को देखते हैं तो एक तरह की आनन्दानुभूति होती है, अपने सजातीय, समानधर्मी, समान-शील-व्यसन तथा ज्ञात कुल-व्यक्ति के दर्शन से जिस तरह के भाव उद्भूत होते हैं और हृदय की जो अवस्था हो जाती है करीब-करीब वही स्थिति कलाकृति के दर्शन से भी होती है। कला में प्रतिबिम्बित वे कौन से भाव हैं जो इस तरह की स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ हैं यदि इस पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम उन्हें पांच वर्गों में बांट सकते हैं—शक्ति, अनुकृति, सत्य, सौंदर्य और सम्बन्ध के भाव। किसी भी कलात्मक वस्तु से ये ही पांच प्रकार के भावों के ज्योतिर्कण विकीर्ण होते रहते हैं और हमारे हृदय को उद्भासित कर वहां आनन्द का सृजन करते रहते हैं। इन पांचों प्रकार के भावों के स्वरूप की व्याख्या और उनके तारतम्य का ज्ञान आवश्यक है।

## शक्ति

जब हम कोई कलात्मक वस्तु देखते हैं तो हमारा ध्यान कलाकार के श्रम बिन्दुओं की ओर शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है। उसके निर्माण में कलाकार की रातें जो उसके पलकों में समा गई हैं, उसका रक्त जो स्वेद बिन्दु बन कर बह-बह कर रह गया है, उसकी भूख और प्यास जो किसी ध्येय की प्राप्ति के लिये हराम सी हो गई है ये सब मूर्त्तिमान होकर दर्शक के सामने उपस्थित हो जाते हैं। कलाकार की सारी प्राणवत्ता, शक्तिमत्ता, उसका सारा ओज और वीर्य उसकी कृति में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। दर्शन के मानस पटल पर उनकी छाप पड़ती है, वह उन्हें अपने अन्तःचक्षुओं से देखता है और अन्तःकरण में मानवता में स्थित प्रत्येक दिव्य गुणों का विकास होता है। वहां कलाकार के प्रति श्रद्धा जगती है, आदर-भाव जगता, अनेक विघ्न-बाधाओं को पैरों तले कुचल कर तदनुरूप कुछ महत्वपूर्ण कृतित्व के द्वारा अपनी अन्तस्थ शक्तिमत्ता की सार्थकता की सिद्धि देखने की इच्छा जागरित होती है, कला की वाणी हमें अन्दर से उभार कर दिव्य पथ के पथिक बन जाने की प्रेरणा देती है। दूसरे शब्दों में मानवता का व्यायाम हो जाता है। हां, यह बात दूसरी है कि इस शक्तिमत्ता में स्वयं कितने क्रम भेद हो सकते हैं। जब किसी पर्वत

पर बनी गुफा को हम देखते हैं तो हमारा ध्यान श्रमिकों के अनेकों वर्षों के शारीरिक श्रम की ओर जाता है। किसी उच्चकोटि की चित्रकला को देख हम कला की कल्पना शक्ति और प्रतिभा से प्रभावित होते हैं। पर कला में हम कलाकार की शक्ति का दर्शन अवश्य पाते हैं, चाहे वह शक्ति हृदय की हो, मस्तिष्क की हो, अथवा केवल अंगुलियों की बारीकी की, पर है वह शक्ति ही—वह शक्ति जिसने अपने तेज से सारी कठिनाइयों को गला कर अपने उद्देश्य की अनुकूलता में ढाल दिया है। कलाकृति में ऐसी क्षमता हो कि वह कलाकार के स्वेद-बिन्दुओं के साथ-साथ उसके कौशल तथा कल्पना शक्ति का भी अर्थात् कलाकार के पूर्ण व्यक्तित्व शक्ति का प्रदर्शन कर सके तो उसका महत्व अनेकशः बढ़ जाता है।

निसर्गतः मनुष्य कठिनाइयों का सामना करने तथा उन्हें परास्त करने का गर्वोल्लास, आनन्दोल्लास का अनुभव करता है। हां, कठिनाइयां कठिनाइयों के लिये ही। भले ही उसके परिणाम कुछ उसके लिये उपयोगी नहीं ही हों। कठिनाइयां इसलिये प्यारी हो जाती हैं कि वे हमें शक्ति प्रदर्शन करने का, अपने अस्तित्व की सार्थकता को महसूस कर सकने, हम पूर्ण शक्ति के साथ जीवित हैं इस बोध का अवसर देकर हमें आत्म-तुष्टि प्रदान करती हैं। हम संघर्ष और विजय के भाव को अपने तक ही सीमित नहीं रखते परन्तु दूसरों में देखना चाहते हैं। जहां किसी अन्य व्यक्ति को भी कठिनाइयों से युद्ध करते देखते हैं हम उसकी शक्तिमत्ता के सामने झुक जाते हैं, श्रद्धा से नम्र हो जाते हैं, उसके लिये मेरे पास प्रशंसा के ही शब्द रहते हैं। यहां एक बात पर भी विचार कर लेना चाहिये। पूर्व-पक्ष की ओर कोई प्रश्न करता सा मालूम पड़ता है "यदि यह बात सत्य है कि कठिनाइयों के प्रति कठिनाइयों के लिये ही मनुष्य के हृदय में आदर भाव की नैसर्गिक स्थिति है तो एक बात समझ में नहीं आती। हम ऐसी भी कलाकृति को देखते हैं या हमें ऐसी भी कविता पढने को मिल ही जाती है जिसमें कलाकार या कवि जिसने अति कष्टसाध्य साधना के द्वारा Technicalities की मांग को पूरा किया, इसकी पूर्ति में उसे कम कठिनाइयों से लोहा लेना नहीं पड़ा है। पर इतना होने पर भी कवि या कलाकार को दोषी ठहराने से नहीं हिचकते, हम कह ही देते हैं कि यहां पर शक्ति का व्यर्थ अपव्यय हुआ है। हिन्दी साहित्य में उदाहरण लें तो केशव की रामचन्द्रिका जैसी पुस्तकों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। ऐसी भी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां पर कवि या कलाकार के प्रयत्नों को देख कर यह कहने की इच्छा हो कि यहां पर

सुरुचि का परिचय नहीं दिया गया है। ऐसा क्यों होता है ?

आइये, ऐसी परिस्थिति में जो कला के पारखी की मानसिक अवस्था होती है उसका सूक्ष्मता से विश्लेषण करें और देखें कि वहां पर कौन-कौन से व्यापार होते हैं। यहां पर भी हम कवि के प्रयत्न संभार से उतने प्रभावित नहीं होते जितना कि कठिनाइयों के सामने पलायन-वृत्ति से कुंठित हो उठते हैं। हमारे हृदय में उसके प्रयत्नों के फल-स्वरूप जो प्रशंसात्मक अंकुर उगते भी हैं वे कलाकार के हृदय की कायरता और पलायनवादिता से उग्रभावों की छाया में मुरझा जाते हैं। कला के उद्देश्य महान होते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये महान् कष्ट-सहिष्णुता की आवश्यकता होती है। Technicalities उतनी महत्वपूर्ण नहीं होतीं, उनकी मांगों की पूर्त्ति के लिये कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ता है पर वे उन कठिनाइयों के सामने नगण्य हैं जिनकी आवश्यकता कला के महदुद्देश्य की सिद्धि के लिये होती है। हम देखते हैं कि कलाकार एक अधिक कष्ट साध्य उद्देश्य की प्राप्ति से आंखें मूंद कर अपेक्षाकृत अधिक सहज-साध्य की ओर ध्यान देने लगा है अर्थात् वह कठिनाइयों से कतरा कर भाग रहा है। तब भला इस पलायनवादिता पर आलोचक का जी थोड़ा कड़ा हो उठे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सदा याद रखना चाहिये कि simple होना complicated होने से कहीं अधिक कठिन है। यों ही बिना सोचे समझे अविवेकी रूप में अपनी शक्ति या चातुर्य को इस उस वस्तु पर व्यय करना सहज है पर यह जानना कठिन है कि कहां पर, किस उचित अवसर पर अपने प्रयत्नों को बन्द कर देना चाहिये। ऊपर जिस स्थिति की कल्पना की गई है उस समय कलाकार की इन महत्तर कठिनाइयों से बचने की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है और हमारा हृदय उसके प्रति कुत्सा से भर जाता है। हमारा हृदय उसके प्रयत्नों से उतना प्रभावित नहीं होता जितना इस बचाव की प्रवृत्ति से कुण्ठित। हमें मानव स्वभाव की नैरन्तरिक प्रयत्नशीलता में विश्वास रखना चाहिये। एक महदुद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह हंसते हंसते प्राणों को खतरे में डाल देता है। क्या मोती जैसे रत्न की प्राप्ति के लिये हम समुद्र के अतल गह्वर में प्राणों को बाजी पर भी प्रवेश करना स्वीकार नहीं करते ?

कला कृति के द्वारा शक्ति के भाव अन्य उल्लिखित भावों से इस तरह से मिले जुले रहते हैं कि उनको पृथक करके देखना प्रायः असम्भव होता है। शक्ति-भाव बोध के साथ सत्य-भाव बोध, तथा सौंदर्य बोध इत्यादि लगे ही रहते हैं। शक्ति-भाव बोधकत्व कला का प्रधान गुण है पर कभी कभी ऐसा होता है कि शक्ति भाव के सच्चे बोध को छोड़ कर उसके आभास को ही

शक्ति बोध समझ लें और उसी के आधार पर हम किसी कलाकृति का मूल्यांकन करने लगें, हम गलत वस्तु को ही सही मान कर उसी के अनुसार कला की परीक्षा लेने लगें। इसके लिये हमें उस प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करना होगा जिसके द्वारा कला-शक्ति भाव का बोध होता है। इस भाव का बोध दो तरह से होता है। प्रथमतः तो यह कि हो सकता है कि हम स्वयं उन कठिनाइयों से पूर्ण रूपेण परिचित हों जिनका सामना कर कृति का निर्माण होता है। हम जानते हैं कि जिन उपकरणों से तथा साधनों से हमें कला कृति का निर्माण करना है वे कितने निःशक्त हैं, नगण्य हैं और उनके द्वारा साध्य की पूर्ति में कितना परिश्रम करना पड़ता है। इस ज्ञान के बल पर कलाकार की शक्ति का जो परिचय मिलेगा वह बोध सच्चा होगा, वह कलाकार की शक्तिमत्ता का उचित मूल्य निरूपण होगा। उस शक्ति बोध में वास्तविकता होगी। द्वितीयतः हमें कला निर्माण में सहायक इन जटिल प्रक्रियाओं का ज्ञान न हो, हम कलाकृति के बाह्य रूप को देख कर शक्ति के थोड़े से स्पन्दन मात्र ग्रहण कर लेते हों। यह शक्ति भाव का ग्रहण ऐन्द्रिय स्पन्दन मात्र होगा, पर प्रथम शक्ति बोध हमारा आत्मिक बोध होगा। द्वितीय हमारी चेतना पर थोड़ा सा मृदुल आघात कर के रह जायेगा प्रथम हमारे मर्म को भेद देगा। यदि इन दोनों प्रक्रियाओं से प्राप्त शक्ति बोध में समानता होगी, वे एक दूसरे के मेल में होंगे, हमारे ऐन्द्रिय स्पन्दन और महत्त्व बोध दोनों एक दूसरे का समर्थन करेंगे तो शक्तिमत्ता की सच्ची उपलब्धि कही जायेगी। पर प्रायः ऐसा होता नहीं है। बहुधा दोनों प्रकार के निर्णयों में असंगति या परस्परविरोधिता देखी जाती है।

इन असंगतियों के दो कारण हैं। प्रथमतः यह कि कृत से अधिक क्रियमाण में, प्रवृद्ध से अधिक प्रवृद्धमान वस्तु में ऐन्द्रिय-शक्ति बोधकत्व की मात्रा अधिक होती है। हमारी इन्द्रियों की प्रकृति ऐसी है कि वे किसी वस्तु की पूर्णता से नहीं बल्कि पूर्णता की ओर अग्रसर होने वाले प्रगति शील रूप से अधिक प्रभावित होती हैं। रस्किन के शब्दों में "its victory, therefore, must not be achieved, but achieving and therefore imperfect. अर्थात् इसकी विजय सिद्धि में नहीं सिध्यमानता में है अतः यह अपूर्ण है।" प्रायः देखा जाता है कि अपूर्ण कलावस्तु में हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करने की अधिक क्षमता होती है क्योंकि अपूर्णता पूर्णता की ओर अग्रसर होने वाला क्रियमाण रूप ही है। दूसरा कारण यह है कि साध्य की सिद्धि में साधन की अपर्याप्तता भी हमारे ऐन्द्रिय-शक्ति बोध का कारण होती

है। दो स्थितियों की कल्पना कीजिये। एक कलाकृति आपने देखी। आपने पाया कि कलाकार के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं,उसके निर्माण में अधिक परिश्रम किया गया हो ऐसा मालूम नहीं होता पर उसे, थोड़ी ही सही, सफलता अवश्य मिली है। दूसरी ओर पूर्ण कलात्मक चित्र आप देखते हैं जिसमें साधन पूरे हैं। यद्यपि दूसरा चित्र हर तरह पहले वाले से पूर्ण है पर पहले वाले चित्र के द्वारा कलाकार की शक्तिमत्ता का ऐन्द्रिय सम्वेदन अधिक होगा। आप किसी चित्रकार के चित्र को ध्यानपूर्वक देखिये जो पूर्ण है। यह चित्रकार की कुछ टेढ़ी मेढ़ी पंक्तियां तथा रंग के धब्बों से मिलकर बना है। तूलिका से खींची प्रथम चार-पांच पंक्तियों से ही रूप की सृष्टि हो जाती है। ये प्रथम चार पंक्तियां जितना काम करती दृष्टिगोचर होंगी उतना और कोई नहीं। चित्र ज्यों-ज्यों पूर्णता को प्राप्त होता जाता है त्यों-त्यों प्रयत्न और प्रभाव का अनुपात घटता जाता है, ऐसा मालूम होने लगता है प्रारम्भ में पंक्तियां जितना प्रभाव उत्पन्न कर रही थीं उतना अब नहीं कर रही हैं, उनकी शक्ति का ह्रास होता जा रहा है मानों अर्थशास्त्र का अपचीयमान ह्रास वाला नियम ( Law of diminishing returns ) यहां भी काम कर रहा हो। यही कारण है कि कला जितनी ही पूर्ण होगी उसमें शक्तिमत्ता के ऐन्द्रिय स्पन्दन उत्पन्न करने की क्षमता कम दृष्टिगोचर होती है। परन्तु किसी चित्रकला के महत्व का निर्णय केवल ऐन्द्रिय स्पन्दन शीलता के आधार पर करना भ्रामक होगा। मानस बोध ऐन्द्रिय बोध से कहीं उच्च है। हमें देखना यह चाहिये कि कला ऐन्द्रिय स्पन्दनशीलता के द्वारा हमारे मानस के तारों को कहां तक स्पन्दित करने में समर्थ होती है, कहां तक मानस को तृप्त करती है। वही कला उच्चतम होगी और सर्वाधिक शक्तिमत्ता को प्रगट कर सकेगी जो थोड़े साधनों से पूर्णता को प्राप्त करे और सर्वाधिक मानसिक शक्ति बोध जागरित करे। साथ में संगत ऐन्द्रिय शक्ति बोध भी लगता चले। वह कला उच्च कोटि की नहीं जो थोड़े साधनों से बहुत कुछ कर सकी पर उसे पूर्णता को नहीं पहुँचा सकी, कुछ करना रह ही गया। वही कला सच्ची है और श्रेष्ठ है जिसमें पूर्णता का आभास मिले और ऐसा मालूम हो कि वहां एक रेखा भी व्यर्थ नहीं। सब रेखाएं आवश्यक हैं और अपनी-अपनी जगह पर काम कर रही हैं।

कलाकार की कारीगरी, कौशल, जिसे अंग्रेजी में execution कहते हैं, में भी शक्ति की बोधदायकता होती है। कौशल में कौन-कौन से गुण हैं जिनके द्वारा शक्ति बोध होता है और इस कार्य के सम्पादन में उनका अनुपातिक

महत्त्व क्या है यह जान लेना आवश्यक है। नहीं तो संभव है कि कला के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में हम से भूलें हों। कौशल को देख कर हमें आनन्द होता है और इसके कारण छः हैं—सत्य, सारल्य, रहस्यमयता, अपर्याप्तता, निर्णयात्मकता और गतिमयता।

सत्य का समावेश कला के लिये अत्यावश्यक है। कलाकार का सत्य क्या है इसका हम आगे विचार कर रहे हैं पर यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसी सत्य अभिनिवेश से कला में सजीवता आती है। यह कलाकार की अपनी मौलिक वस्तु है। यद्यपि यह अरूप है पर रूप की सृजन शक्ति इसमें है और उसी के द्वारा वह प्रगट भी होता है। कोई भी व्यक्ति यथोचित परिश्रम करने पर कारीगरी के बाहरी गुणों को सीख सकता है पर सत्य की उपलब्धि, परिश्रम-साध्य नहीं है। यदि यह वर्त्तमान है तो कौशल की कमी नहीं हो सकती। और यदि हो भी तो वह उतनी खटकती नहीं। दूसरा गुण है सारल्य। साधन में जितनी आडम्बरहीनता होगी, शांति होगी, वैराग्य होगा उतनी ही कला में प्रभावोत्पादकता होगी। तीसरा गुण है रहस्यमयता। प्रकृति स्वयं अपने साधनों का प्रयोग एक गुप्त रूप से तथा रहस्यमय ढंग से करती है। दुर्बोध, अचिन्तनीय कौशल श्रेष्ठ है। चौथा गुण तो स्पष्ट ही है साधन की अपर्याप्तता ऐन्द्रिय शक्ति बोध का स्पन्दन पैदा करती है। पांचवा निर्णयात्मकता है। कलाकृति से निर्भीकता, आत्म-विश्वास की झलक मिलनी चाहिये। ऐसा मालूम होना चाहिये कि कलाकार के मन में कहीं भी संशय नहीं है। छठा गुण है गतिमयता। गतिशील रेखा जितनी खूबी से सत्य की अभिव्यक्ति कर सकेगी उतनी मन्द नहीं।

ऊपर कौशल के छः गुणों में से प्रथम तीन सत्य, सारल्य और रहस्यमयता को एक वर्ग में और अंतिम तीन अपर्याप्तता, निर्णयात्मकता तथा गतिशीलता को दूसरे वर्ग के अन्दर रख सकते हैं। इन दोनों वर्गों के गुणों से कला के सत्य बोध की उद्भूति होती है। दोनों गुण अपने-अपने स्थान पर कला के लिये महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु, इतना तो स्पष्ट ही है प्रथम वर्ग के गुणों का महत्व अधिक है और उनका ह्रास कला को किसी प्रकार भी सह्य नहीं है। प्रथम तीन-गुणों—सत्य, सारल्य और रहस्यमयता के द्वारा प्रेक्षक या द्रष्टा का ध्यान ध्येय या परिणाम की ओर आकर्षित होता है और द्वितीय वर्ग के द्वारा कला के साधनों की ओर। कौशल की गतिमयता तथा निर्णयात्मकता की परख के लिये हमारा ध्यान सृजन की ओर से हट कर सृजन-व्यापार की ओर चला जाता है। हम चित्र से अधिक तूलिका की ओर देखने लगते हैं पर

सारल्य और रहस्यमयता हमें साधन को छोड़ साध्य की ओर केन्द्रित करती है। इसको रस्किन ने यों कहा है—"To see that execution is swift or that it is decided we must look away from its creation to observe it in the act of creating; we must think more of the pallet than of the picture, but simplicity and mystery compel the mind to leave the means and fix itself on the conception." निष्कर्ष यह निकलता है कि कला की शक्ति का अभिव्यक्तीकरण दोनों रूपों में होता है। दोनों में समन्वय होना अत्यावश्यक है। पर जहाँ एक के द्वारा अर्थात् भाषा के द्वारा भावों के प्रस्फुटन पर पर्दा-सा पड़ता दिखाई पड़ा वहीं कला का पतन हुआ। आलोचकों को सूक्ष्मतापूर्वक देखना चाहिये कि जिन गुणों को ऊपर द्वितीय वर्ग में रखा है उनकी अभिव्यंजना को तथा उनके द्वारा शक्ति बोध के ऐन्द्रिय स्पन्दन को आवश्यकता से अधिक महत्व तो नहीं दिया जा रहा है? आलोचकों के द्वारा उचित कला मूल्यांकन में तथा सुरुचि के निर्माण में यह सबसे अधिक घातक हैं। जो हो, इतना निश्चित है कठिनाइयों का सामना कर ही कला अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती है। आलोचक वहीं भूल करता है जब विवेक से वह यह निश्चित करना भूल जाता है कि कौन छोटी कठिनाइयां हैं और कौन बड़ी और छोटी कठिनाइयों पर विजय को वह महत्वपूर्ण समझने लगता है। ऊपर यह कह ही आये हैं कि भाव की कठिनाइयां भाषा की कठिनाइयों से कहीं बड़ी हैं।

## अनुकृत और सत्यता

अनुकृति के सम्बन्ध में रस्किन के भाव बड़े ही स्पष्ट हैं। जब किसी कलाकृति को देख कर हमें उसमें उस वस्तु का आभास हो जो वह वास्तव में नहीं है तब यह कहा जा सकता है कि उसमें हमें अनुकृति के भाव प्राप्त हो रहे हैं। दोनों तरह का परस्पर विरोधी ज्ञान वर्तमान रहना चाहिये। एक ओर "अतस्मिंस्तद्बुद्धि" भी हो दूसरी ओर इस ज्ञान का खण्डन भी होता रहे। उदाहरणार्थ मोम की बनी जापानी मानव मूर्तियों के द्वारा अनुकृति भाव गृहीत होते हैं कारण चक्षुरिन्द्रिय को इसमें मानव मूर्तियों का भ्रम हो जाता है पर चक्षुरिन्द्रिय को इसकी अवास्तविकता का भी दृढ़ बोध वर्त्तमान रहता है। कागज पर खड़िया से खचित वृक्ष शाखा से अनुकृति के भाव प्रस्फुटित होते से नहीं कहे जा सकते क्योंकि यह "अतस्मिंस्तद्बुद्धि" का भ्रम पैदा नहीं करता। यह कागज और चाक है और स्पष्टतया कागज और चाक की

तरह दिखलाई पड़ता है तथा शाखा की तरह नहीं मालूम पड़ता—यह तो शाखा ही है। खैर, कला से अनुकृति के भाव उद्दीरित होते हैं और इनसे थोड़ी बहुत मानसिक तृप्ति हो जाती है पर कला के लिये अनुकृति कोई विशेष महत्वपूर्ण चीज़ नहीं है। इसके बहुत से कारण हैं जिनमें सबका उल्लेख करना यहां संभव नहीं। कुछ कारणों को जान लेने से हमारा काम चल सकता है।

कला में प्रकृत वस्तु अथवा घटना की सत्यता को द्रष्टा की इन्द्रियों तथा मानस के प्रति निवेदित करने की शक्ति होनी चाहिये। अनुकृति और सत्यता में बहुत अन्तर है (i) अनुकृति केवल मूर्त्त तथा स्थूल पदार्थों की हो सकती है परन्तु सत्यता तो भावों, विचारों और संस्कारों के क्षेत्र में भी पैर बढा सकती है। सत्यता का क्षेत्र व्यापक है। (ii) सत्यता को अभिव्यक्ति के लिये माध्यम को प्रतीक के रूप में प्रयोग करना पर्याप्त है। यह आवश्यक नहीं कि माध्यम में अभिलेख्य वस्तु का सादृश्य भी हो ही। पर अनुकृति में माध्यम में यह सादृश्य आवश्यक है। अनुकृति के लिये माध्यम में यह सादृश्य आवश्यक है। अनुकृति का निवेदन Perceptive faculty के प्रति होता है पर सत्यता का Conceptive faculty के प्रति। (iii) तीसरा अन्तर स्रष्टा की मानसिक स्थिति में है। अनुकृति के भाव और सत्यता के भाव के ग्रहण करने के अवसर पर द्रष्टा के मानस व्यापार भिन्न-भिन्न होते हैं। सत्यता के भाव ग्रहण करते समय द्रष्टा कला वस्तु को देखता है, उसमें कुछ भाव, वस्तु तथा विचार की अवस्थिति पाता है, उनको अपने सक्रिय मानस से ग्रहण कर उनकी वास्तविकता में विश्वास कर उन्हीं में रम जाता है। द्रष्टा का उन माध्यमों तथा उपकरणों की ओर ध्यान भी नहीं जाता। ये माध्यम भी सीधे-सादे, सरल ईमानदार और इन्द्रजाल की भूल-भुलैया से रहित होते हैं। इनमें कोई गूढ़ता नहीं होती जिसके उद्घाटन से द्रष्टा को आल्हादपूर्ण आश्चर्य की थोड़ी गुदगुदी हो। वे अपने संदेश को निष्कपट रूप में, सीधे उपस्थित करते हैं जिसे द्रष्टा का मस्तिष्क देख कर रम जाता है। पर अनुकृति के भावग्रहण के समय हमारा मस्तिष्क जानता रहता है कि जो वस्तु या भाव हमारी दृष्टि में आ रहा है वह तथ्य नहीं। तथ्य तो इनसे भिन्न है और इस भिन्न तथ्य को प्राप्त करने में हमारी मानसिक क्रियायें लग जाती हैं। द्रष्टा का मानस व्यङ्ग्य वस्तु या भाव पर नहीं टिकता परन्तु असत्य व्यंग्यत्व पर टिकता है। इस अवस्था में जो आनन्दानुभूति होती है उसका मूल सत्य की परिकल्पना नहीं परन्तु एक असत्य का रहस्योद्घाटन है। सत्य के भाव ग्रहण का आधार सत्यता है पर अनुकृति का आधार असत्य का है। सत्य कला का प्राणाधायक

है, अनुकृति प्राणघातक। ध्वनिकार ने भी ध्वनिकाव्य पर विचार करते कहता है :—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थ, मुपसर्जनीकृत स्वार्थो,
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।"

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य भाव को इस प्रकार प्रगट क उनका अस्तित्व गौण हो जाय। भाव की स्थिति की ओर ही पाठक का आकर्षित हो, शब्द और अर्थ का अस्तित्व मानो विलीन हो जाय वही और श्रेष्ठ काव्य कहलाता है।

कलाकार के दो ध्येय हैं प्रथमतः तो किसी प्रकृत-वस्तु के रूप का चित्रण करना, द्वितीयतः मनुष्यों का ध्यान ऐसी वस्तुओं की ओर आ करना जो महत्त्वपूर्ण हों और उन्हें मानसिक भोजन के लिये उदात्त-से- सामग्री उपस्थित करती हों अथवा किसी वस्तु के उन आभ्यन्तर गुण उद्घाटन करना जिसके द्वारा किसी गंभीर तथ्य का उद्घाटन हो रहा, साधारणतः मनुष्य की आँखें उन्हें देख लेने में समर्थ नहीं होतीं। इन ध्येयों में प्रथम तो कुछ-कुछ अनुकृति के भाव की सीमा को छूता है, सत्य के भाव को। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरा ध्येय ही महत्वपूर्ण है यद्यपि प्रथम के महत्व को भी भुलाया नहीं जा स प्रथम उद्देश्य की पूर्ति तक कलाकार दर्शक के लिये रथ का काम क जिसके द्वारा वह किसी सुन्दर दृश्य के समीप पहुँचकर रह जाता है पर ध्येय की पूर्ति के अवसर पर वह दर्शक के लिये सुहृद मित्र बन जा उससे अपने हृदय की बातें करता है, उसे तरह-तरह से समझाता है तथ आनन्दोल्लास में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित करता है जिसके उसका हृदय उच्छ्वसित हो उठा था। दर्शक एक जीवित हृदय के की पुलकानुभूति से, जीवन-भावातिरेक से नाच उठता है।

कला के सत्य के सम्बन्ध में रस्किन के दो और सूत्र हैं जिनका रखना चाहिये। विशेष सत्य सामान्य सत्य से अधिक महत्वपूर्ण है; कीजिये कि मैंने अपने साथी से पूछा कि अमुक व्यक्ति कौन है? उत्तर कि यह एक मनुष्य है। यह सामान्य सत्य हुआ पर इससे हमें होगा? कदापि नहीं। पर यदि उत्तर मिलता है 'यह न्यूटन है'। यह सत्य होगा पर इससे हमारे हृदय को सन्तोष मिलता है, समाधान प्रा है। दूसरा सूत्र है कि कभी-कभी किसी विशेष अवसर पर दीख पड़ने वा सदा दीखते रहने वाले गुणों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कल्पना कीजिये